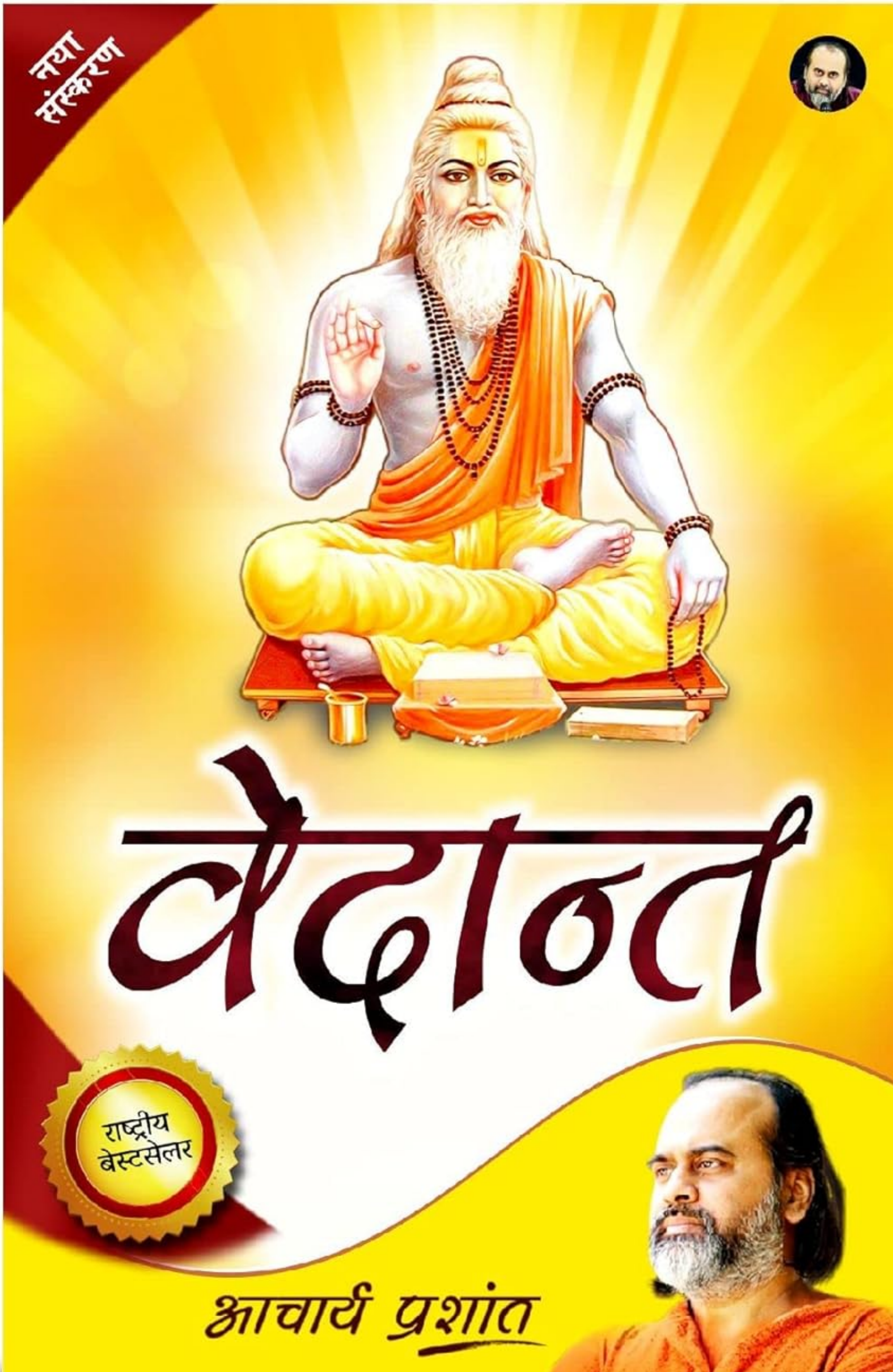

नया संस्करण
वेदान्त
राष्ट्रीय बेस्टसेलर
आचार्य प्रशांत

उपनिषद् क्या हैं?

ज्ञान की एक पूरी श्रृंखला हैं वेद, और उनके केंद्र में ज्ञान मात्र है। किसी एक व्यक्ति द्वारा लिखी गयी वो किताब नहीं है। किसी एक इंसान या इंसानों के एक समूह, या दल, या समुदाय या सम्प्रदाय का वो प्रतिनिधित्व नहीं करती। किसी एक व्यक्ति का नाम उससे जोड़ा नहीं जा सकता। व्यक्ति आए, चले गए। इतने ऋषि उसमें वर्णित हैं, उनमें से कोई ऋषि हो न हो – एक ऋषि, सहस्त्रों ऋषि – वेदों का किसी व्यक्ति विशेष से कोई संबंध नहीं। तो ज्ञान की एक पूरी परंपरा है, ज्ञान की पूजा करते हैं। इसीलिए एक बड़े लंबे, विस्तृत कालखंड में पसरे हुए हैं वेद। एक दिन या दस दिन या सौ वर्षों में भी नहीं लिख दिए गए थे वेद। उनकी हज़ारों वर्षों की यात्रा है और चूँकि उनका संबंध ज्ञान से, बोध से है, व्यक्तियों से नहीं, इसीलिए उनको अपौरुषेय भी कहते हैं। कि किसी मनुष्य की कृति मत मान लेना इनको। मनुष्य मात्र की या मनुष्य विशेष की भी संपदा मत मान लेना इनको।

तो हम कह रहे थे वेदों की एक पूरी यात्रा है, इस यात्रा में बहुत उतार-चढ़ाव आते हैं, लेकिन वो यात्रा है निरंतर ऊर्ध्वगामी ही। वो नीचे से चलती है और एकदम ऊपर तक जाती है, ज्ञान का काम ही यही है।

तो वेदों के आरंभ में आते हैं मंत्र, संहिताएँ जिनमें तमाम देवताओं का पूजन है, उन्हें संतुष्ट करके उनसे वरदान, आशीर्वाद आदि माँगा गया है, शत्रुओं का नाश माँगा गया है, अपने पालतू पशुओं की संख्या, स्वास्थ्य में वृद्धि और रक्षा माँगा गया है। जितनी भी आधिभौतिक और आधिदैविक आपदाएँ हो सकती हैं, उनके विरुद्ध सुरक्षा माँगी गई है और इसमें विशेषरूप से कुछ आध्यात्मिक नहीं है। हालाँकि ऋग्वेद के दशवें मंडल में बहुत कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक काव्य की श्रेणी में रखा जाना चाहिए लेकिन फिर भी कुल मिलाकर के वेदों का जो मंत्र भाग है उसमें प्रकृति पूजन ही अधिक पाया जाता है।

ये जो यात्रा है वेदों की, वो मंत्रों से आगे बढ़ती है। फिर ब्राह्मण आते हैं जो बताते हैं कि यज्ञ आदि में और तमाम तरह के अनुष्ठानों, कर्मकाण्डों में किस तरह की विधियों का और नियमों का पालन करना चाहिए। फिर आरण्यक आते हैं। आरण्यक आते-आते फिर बात और गहराने लगती है। अब जो प्रश्न हैं वो बाहरी संसार से हटकर भीतरी होने लग जाते हैं। और वही यात्रा फिर अपना पूर्ण विकास पाती है और अपना गंतव्य, अपना लक्ष्य भी पाती है उपनिषदों में।

उपनिषदों में अब बात पूरे तरीके से आंतरिक हो गयी है। अब प्रकृति से कोई लेना-देना नहीं रहा। शुरुआत प्रकृति से हुई थी कि इंद्र से कुछ बात की जा रही है, मारुत से

कुछ पूछा जा रहा है, वरुण से, अग्नि से कुछ पूछा जा रहा है। प्रकृति की शक्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले ये सब देवता हैं, इनसे वरदान माँगा जा रहा है, इन्हें संबोधित किया जा रहा है और उपनिषदों तक आते-आते ऋषि प्रकृति के प्रति बिल्कुल उदासीन हो जाते हैं, बल्कि यहाँ तक कह देते हैं कि, "सत्य तो प्रकृति से परे है!"

बात इतनी बदल जाती है कि एक ओर तो देवता लोग थे जिन्हें भोग लगाया जा रहा था, खिलाया जा रहा था। उनको अन्न, पत्र, पुष्प यहाँ तक कि पशु की भी भेंट दी जा रही थी और उपनिषदों में ब्रह्म मात्र है जो कभी कुछ खाता ही नहीं। मंत्रों में देवी देवता हैं जो सब साकार हैं, जिन्हें संतुष्ट किया जा सकता है, जिनसे बात की जा सकती है और उपनिषदों में ब्रह्म मात्र है, जिसका कोई आकार नहीं, जिसकी कोई इच्छा नहीं, जिसका कोई संगी-साथी नहीं। जो अचिन्त्य है उससे बात क्या की जाएगी? तो बात इतनी बदल जाती है। लेकिन उपनिषद् हैं पूरे तरीके से वेदों के ही अंदर। वास्तव में वैदिक प्रक्रिया ही विकास लेकर के अन्ततः उपनिषदों तक पहुँचती है। और जहाँ तक मानव के अंतर्जगत की बात है, उपनिषदों के आगे की बात आज तक न सोची गयी है, न कही गयी है।

पूरे विश्व में विचार ने जहाँ कहीं भी ऊँचाइयाँ छुई हैं, उसको उपनिषदों ने किसी-न-किसी तरीके से प्रभावित किया है और भारत में तो स्पष्ट ही है कि जो भी धार्मिक सौंदर्य हम पाते हैं, उसके पीछे उपनिषदों का ही आशीर्वाद है। चाहे फिर वो बौद्ध धारा हो या भक्ति की मिठास, हैं सब उपनिषदों से ही प्रणीत। तो ये हैं उपनिषद्। इसलिए मैं बार-बार वेदान्त के महत्व की बात करता हूँ। वेदान्त में जो तीन इकाईयाँ सम्मिलित मानी जाती हैं, प्रस्थानत्रयी के नाम से उन्हें संबोधित करते हैं।

वो हैं ब्रह्मसूत्र, माने वेदान्त सूत्र, उपनिषद् और भगवद्गीता। इन तीनों में जो प्राचीनतम हैं वो निश्चितरूप से उपनिषद् हैं। और उपनिषद् प्राचीनतम ही नहीं, उपनिषद् वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता के आधारभूत भी हैं। उपनिषद् न हों तो वेदान्तसूत्र और भगवद्गीता नहीं हो सकते। तो इसीलिए कई बार वेदान्त को और उपनिषदों को एक ही संबोधन में कह दिया जाता है। ग़लत नहीं होगा कहना कि उपनिषद् ही वेदान्त हैं।

उपनिषदों का व्यापक महत्व

उपनिषद् भारत में भले ही घर-घर में लोकप्रियता न रखते हों, पर लोकप्रियता बहुधा श्रेष्ठता का मापदंड नहीं होती। उपनिषदों के दर्शन ने आदिकाल से ही भारत और पूरे विश्व में श्रेष्ठतम चिंतकों को प्रेरित किया है।

उपनिषदों के दर्शन और चरित्रों को हम अनगिनत भारतीय ग्रन्थों में पाते हैं। औपनिषदिक विचार के अवलंबन के बिना शायद ही कोई भारतीय ग्रंथ अस्तित्व में आ पाता। महाभारत में, विशेषकर भगवद्गीता में, रामायण में, पुराणों में, स्मृतियों में, मध्यकालीन संतवाणी में, और यहाँ तक कि वेदों से हटकर भी जो नास्तिक दर्शन हैं, उनमें भी उपनिषदों के विचारों को पाया जाता है।

उपनिषदों से साझे सिद्धांत, कथाएँ, चरित्र व पात्र हमें बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी मिलते हैं। वहाँ पर भी आत्मा और कर्म आदि सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है; यद्यपि आत्मा और कर्म से जो उनका अर्थ है, आशय है, वो भिन्न हो सकता है। विशेषकर महात्मा बुद्ध के दर्शन का आधार निश्चित रूप से उपनिषद् ही हैं। बुद्ध को तो निश्चित ही महानतम वेदान्तियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके अलावा जो बहुत सारे भाष्यकार हैं जिन्होंने उपनिषदों पर बात करी है उनको देखकर पता चलता है कि भारतीय दर्शन के पूरे इतिहास पर ही उपनिषदों की कितनी गहरी छाप रही है। वेदान्त दर्शन सब भारतीय दर्शनों में समाविष्ट है, बल्कि सब भारतीय दर्शनों का मूल है।

भले ही कतिपय भारतीय समुदाय वेदान्त क्या, वेद से भी बिलकुल न जुड़े होने का दावा करते हों, पर सभी भारतीय धार्मिक समुदाय अपने मूल रूप में, आधारभूत रूप में, हैं उपनिषदों से ही प्रभावित। विचारणीय है कि उपनिषद् स्वयं बहुत ज़्यादा कभी प्रचलित नहीं हो पाए और उनको जनसामान्य में कभी वो लोकप्रियता नहीं मिली जो कई अन्य दूसरे विचारों-सिद्धांतों या दर्शनों को मिली। लेकिन फिर भी जो कुछ भी दर्शन के तौर पर भारत भूमि से उपजा, उसको प्रेरणा तो वेदान्त से ही मिली है।

तो, उपनिषदों पर तो दार्शनिक और विचारक और पंडित लोग ही व्याख्या करते रहे, लेकिन उपनिषदों से प्रेरित जो कथाएँ थीं, पुराण थे, मूल सिद्धान्त थे, वो जनसामान्य में बड़े प्रचलित हो गए। यहाँ तक कि जो मध्यकालीन भक्ति और अन्य धाराएँ हैं उनपर भी उपनिषदों का प्रभाव साफ़ परिलक्षित होता है।

“सब भेद मिथ्या हैं, आत्मा अखंड है, अटूट है, विविधता माया मात्र है। जहाँ कहीं भी आपको कोई दूसरा दिखाई देता है, या पराया दिखाई देता है, वो सबकुछ बस आँखों का धोखा है, मन का खेल है।“ – इसी सिद्धांत पर फिर आगे चलकर समाज में व्याप्त

तमाम कुरीतियों का भी विरोध किया गया। जैसे, जातिप्रथा है, जिसमें ऊँच-नीच की बात है, तो उस पर फिर यही उत्तर दिया गया कि, “देखो जब आत्मा एक है तो ऊँच-नीच कैसे हो सकती है? और जब आत्मा मात्र सत्य है, बाकी सब मिथ्या है तो ऊँच-नीच भी मिथ्या है न।“ जो सुधारवादी धाराएँ भारत में बहीं, मध्यकाल से लेकर के आधुनिक काल तक, उनके मूल में भी उपनिषदों का ही चिंतन है।

दाराशिकोह ने फ़ारसी में जो उपनिषदों का अनुवाद किया था, सम्भावना है कि उससे सूफ़ी चिंतन पर भी काफ़ी प्रभाव पड़ा। त्याग, और विलासिता से दूरी, मोह और आसक्ति से दूरी – ये सिद्धांत मूलरूप से उपनिषदों से हैं। और संभावना है कि सूफ़ियों ने भी इन्हें वहीं से ग्रहण किया।

अट्ठारहवीं शताब्दी के सुधारवादी माहौल में राजा राममोहन राय ने सब कर्मकांड व मूर्तिपूजा का खंडन किया परंतु वेदान्त में पूर्ण विश्वास रखा। ब्रह्म समाज के माध्यम से वो उपनिषदों के पाठ को प्रेरणा देते, उन्होंने उपनिषदों का बंगाली, हिन्दी व अंग्रेज़ी में अनुवाद किया व ब्रह्म समाज के माध्यम से उनका प्रचार भी किया।

इसी तरह से आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती भी उपनिषदों से कई बार उद्धृत किया करते थे। रमण महर्षि का जो उपनिषदों से लगाव था उसकी तो क्या ही बात करें! इनके अलावा जिद्दू कृष्णमूर्ति भी जो बात कहते थे, वो मूल रूप से वेदान्त की ही है। स्वामी विवेकानंद का तो कहना ही क्या, उन्होंने तो वेदान्त को भारत में ही नहीं पश्चिम में भी बहुत प्रचारित किया। महात्मा गाँधी भी भगवद्गीता को रोज़ पढ़ा करते थे, उनको अपनी माँ बोलते थे, ईशावास्य उपनिषद् से भी काफ़ी प्रभावित थे, 'ईशावास्य इदं सर्वं' उनका प्रिय श्लोक था। जवाहरलाल नेहरू ने उपनिषदों की गौरवपूर्ण बात करी है ‘भारत एक खोज’ में, भीमराव अम्बेडकर ने भी 'अहम् ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यों को उद्धृत किया ये बताने के लिए कि जातिभेद वगैरह व्यर्थ की बात है, हालाँकि वे यह भी कहते थे कि उपनिषदों के विचार हिन्दू धर्म की मुख्यधारा में समाहित नहीं हो पाए।

तो इस तरह उपनिषदों का प्रभाव तो ज़बरदस्त रहा है लेकिन फिर भी माया का कुछ ऐसा खेल है कि स्वयं उपनिषद् ही हिन्दू धर्म की मुख्यधारा से थोड़ा अलग ही रह गए। कोई भारतीय उपनिषदों का यदा-कदा ही पाठ करता होगा, अधिकांश लोग तो उपनिषदों का नाम भी नहीं जानते।

उपनिषदों से एकदम मिलते-जुलते सिद्धांत हमें ग्रीक दर्शन में देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए – पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो आदि ईसा पूर्व पाँचवीं से दूसरी शताब्दियों तक के दार्शनिकों के वक्तव्यों में। प्लेटो का 'गुफा का रूपक' तो अवश्य ही

उपनिषदों से प्रेरित प्रतीत होता है। मैक्स मूलर ने प्लेटो के लेखन और उपनिषदों के दर्शन के बीच की समानता को अद्भुत माना है। प्लेटो के गुरु सुकरात भी, कहा जाता है कि, एथेंस की सड़कों पर विचरते एक भारतीय दार्शनिक से मिले जिससे उन्होंने ब्रह्म और अब्रह्म के बीच संबंध का ज्ञान पाया। ग्रीक दार्शनिकों का पुनर्जन्म में विश्वास भी संभवतः पूर्व से ही आया।

दाराशिकोह की १६५७ की 'सिर्र्-ए-अक़बरी' नामक पुस्तक में ५२ उपनिषदों का फ़ारसी अनुवाद था। दाराशिकोह ने बनारस से विद्वानों को दिल्ली बुलाया, और लगभग दो वर्ष में यह किताब पूर्ण हुई। सनातन धर्म के प्रति सम्मान और उदारता का दृष्टिकोण रखने के कारण औरंगजेब ने उसे काफ़िर घोषित कर दिया और अंततः उसकी हत्या कर दी। आज इतिहास में दाराशिकोह हाशिये का एक नाम बनकर रह गया है, लेकिन उनका योगदान बहुत आगे तक गया। फ़ारसी से उपनिषदों की एक प्रति फ्रेंच में, फ्रेंकोइस बरनियर, जो बारह साल तक औरंगज़ेब के चिकित्सक थे, द्वारा अनुवादित होकर फ्रांस पहुँच गई। यूरोप में उसका फ्रेंच और लैटिन में अनुवाद हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में जब ब्रिटिश और जर्मन पंडितों ने उपनिषदों का अनुवाद करना शुरू करा, उससे पहले ही दाराशिकोह की किताब पश्चिम में पहुँच चुकी थी।

लगभग सौ साल बाद अब्राहम ऐन्केटिल ने इस किताब का लैटिन में अनुवाद किया, 'ओपनखट' नाम से। इसी लैटिन किताब के माध्यम से जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर व अन्य यूरोपियन बुद्धिजीवियों का उपनिषद् से परिचय हुआ। शोपेनहावर की 'द वर्ल्ड ऐज़ विल एंड रिप्रेज़ेंटेशन' छान्दोग्य उपनिषद् पर आधारित है। उनके पास टूटा-फूटा लैटिन अनुवाद आया था, लेकिन फिर भी शोपेनहावर किसी तरह समझ ही गए कि उपनिषदों की मूल बात क्या है।

इसी तरीके से फ्रेडरिक नीत्ज़े और कार्ल गुस्ताव यंग – इन सब पर स्पष्ट रूप से उपनिषदों का प्रभाव था और फिर इसके बाद तो अंग्रेज़ी अनुवाद भी उपलब्ध होने लग गए। जब अंग्रेज़ी अनुवाद उपलब्ध होने लग गए तो कवि जैसे टी. एस. इलियट और राल्फ वाल्डो एमर्सन, व्हिटमैन – जो ट्रांसएन्डेन्टलिस्ट्स कहे जाते थे – उपनिषदों के सिद्धांतों से प्रभावित हुए। सर विलियम जोंस ने तो एक अनुवाद भी किया अंग्रेज़ी में ईशावास्य उपनिषद् का और यही करने वाले आगे थे कार्ल ब्रूक, राजा राममोहन रॉय, मैक्स मूलर आदि चिंतक।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रेंच दार्शनिक विक्टर कज़िन ने भगवद्गीता के दो अध्यायों का अनुवाद किया। कहा कि, "जब हम भारत के दर्शन की ओर देखते हैं तो वहाँ हमें ऐसे अथाह सत्य का ज्ञान होता है जो हमारे यूरोपियन विचारकों के उथले निष्कर्षों के सर्वथा

विपरीत है। हमें विवश होकर के पूर्व के सामने घुटने टेकने ही पड़ते हैं और मानना पड़ता है कि उच्चतम मानव दर्शन का यही जन्मस्थान है।“

फ़्रेडरिक शैलिंग ने शोपेनहावर से भी ज़्यादा उत्कंठित भाषा में उपनिषदों की वंदना की और अपने शिष्य मैक्स मूलर को उपनिषदों के अनुवाद के लिए प्रेरित किया। मैक्स मूलर ने संस्कृत सीखी, ऋग्वेद मे गहरी रुचि दिखाई और अपने समय के प्रख्यात भारतविद् हुए। उनके उत्तराधिकारी पॉल ड्यूसेन ने कहा, “वेदान्त मानव चेतना की सबसे उत्कृष्ट कृतियों में है। बोध वृक्ष पर उपनिषदों से सुंदर कोई पुष्प नहीं और वेदान्त जैसा उत्कृष्ट कोई फल नहीं।“

इमरसन कठ उपनिषद् से प्रभावित थे और उनकी कविताएँ ‘सेलेस्टियल लव’, ‘वुड नोट्स’ व ‘ब्रह्म’ एक सार्वभौम औपनिषदिक सिद्धांत की अभिव्यक्ति करती हैं।

वॉल्ट ह्विटमैन ने अपनी ‘लीव्स ऑफ ग्रास’ व ‘सॉन्ग ऑफ माइसेल्फ’ में अपने अनंत अमर स्वभाव का वर्णन किया है।

ट्रांसएन्डेन्टलिस्ट्स से भी पहले अमरीकी राष्ट्रपति जॉन एडम्स ने उपनिषदों का महान पाठ किया था। अपने जीवन के आख़िरी दिन भी वे अपने मित्र थॉमस जेफ़रसन के साथ वेदान्त विषय पर ही चर्चा कर रहे थे। उनकी व जेफ़रसन की मृत्यु साथ ही हुई।

प्रख्यात वैज्ञानिक बेंजामिन फ़्रेंकलिन ने भी आत्मा की अमरता का वर्णन किया है।

रूसी कहाँ पीछे रहने वाले थे यूरोप और अमेरिका से! लिओ टॉलस्टॉय ने उपनिषदों व भगवद्गीता में गहरी रुचि दिखाई। महात्मा गाँधी को प्रेषित “फ्री हिन्दुस्तान” में छपा उनका पत्र ‘अ लेटर टु अ हिन्दू’ वेदान्तिक सूत्रों व उद्धरणों से भरा हुआ है।

आधुनिक युग में पॉल गौगुइन ने अपनी कृतियों में कर्म विषयक विवेचनाएँ करीं। वे ये भी मानते थे कि पायथागॉरस प्राचीन भारतीय ऋषियों के शिष्य थे।

जेम्स जॉयस ने ‘यूलिसिस’ में, जैक लंडन ने ‘स्टार रोवर’ में, हरमन हेस ने ‘सिद्धार्थ’ में, और रिचर्ड बाक ने ‘जोनाथन लिविंग्स्टन सीगल’ में वेदान्त को ही आधारभूत रखा है। नोबेल पुरस्कार विजेता इसाक बेशविस सिंगर ने, व कवि जॉन मेसफील्ड ने वेदान्त के सूत्रों को कलात्मक अभिव्यंजना दी है। पश्चिम पहुँचने के दो-सौ वर्षों के भीतर ही उपनिषदों ने पाश्चात्य दार्शनिकों, विचारों, लेखकों व कलाकारों पर परिवर्तनकारी प्रभाव डाला है।

तो उपनिषद् ऐतिहाससिक रूप से प्रभावशाली तो बहुत रहे हैं, पर बस उन्हीं चिंतकों और साधकों के लिए जो सच के खोजी हैं। आज समय ऐसा है कि सच की निकटता बहुत आवश्यक हो गई है। तो कालधर्म है कि उपनिषदों को जनसामान्य के बीच भी वो स्थान दिलाया जाए जिसके वे अधिकारी हैं। 'घर-घर उपनिषद्' इसी दिशा में एक प्रयास है।

वेदान्त ही सनातन धर्म है

जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं, वह वेदों में अभिव्यक्त होता है। सर्वविदित है कि सनातनियों के केंद्रीय ग्रंथ वेद हैं।

यूँ तो हिन्दू समाज न जाने कितनी छोटी-बड़ी धार्मिक पुस्तकों को मान्यता देता है। उन सब पुस्तकों में किसी सीमा तक सत्य व सौन्दर्य है, पर वेदों के समक्ष वे तमाम पुस्तकें पारिधिक और अप्रधान हैं। स्पष्ट परिभाषा है कि 'आस्तिक वो है जो वेदों को मानता हो'। एक सनातनी यदि किसी भी पुराण, इतिहास ग्रंथ, स्मृति आदि में आस्था न भी रखता हो, तो भी वो आस्तिक ही माना जाएगा यदि वह वेदों में आस्था रखता है। परंतु कोई व्यक्ति यदि स्मृतियों और पुराणों आदि में विश्वास करता हो, पर वेदों की ओर उदासीन हो, तो वो नास्तिक माना जाएगा। आस्तिकता की कसौटी मात्र वेद हैं। वेद ही प्रथम हैं, प्रधान हैं, और अंतिम हैं। तो पहली बात ये स्पष्ट रही कि सनातन धर्म में किसी भी ग्रन्थ, मान्यता, परम्परा इत्यादि का महत्व वेदों से बढ़कर नहीं है। सनातम धर्म वैदिक धर्म है।

अब आते हैं वेदों पर। वेदों के दो भाग कहे जा सकते हैं - पहला कर्मकाण्ड, और दूसरा ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में मुख्यतः प्रकृति के तत्वों की उपासना आदि है, जिसका लक्ष्य सांसारिक सुख व समृद्धि प्राप्त करना है। देवताओं की प्रशंसा में मंत्र व उनकी उपासना और यज्ञ आदि की विधियाँ ही कर्मकाण्ड का विषय हैं। कर्मकाण्ड का मनुष्य की सत्य व मुक्ति के प्रति उत्कंठा से बहुत कम सम्बन्ध है। और विज्ञान ने आज प्राकृतिक शक्तियों की उपासना को अप्रासंगिक बना दिया है। अग्नि, सूर्य, वरुण, अश्विन, आदि की उपासना आज कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। हम आग, बिजली, पानी, सूर्य, चंद्र आदि को विज्ञान की सहायता से भली-भाँति समझते हैं। और हम ये भी जानते हैं कि वायु, या जल, या बिजली, या सूर्य की प्रशंसा-श्लाघा-स्तुति करके हमें कोई लाभ नहीं होने वाला। तो कर्मकाण्ड का एक काल-बद्ध महत्व था किसी समय पर, जो आज नहीं है।

तो फिर वेदों की इतनी महिमा क्यों है? वेदों की महिमा है ज्ञानकाण्ड के कारण, जिसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् कालबद्ध नहीं बल्कि कालातीत हैं। उपनिषदों में जो बात कही गयी है वो कभी पुरानी पड़कर अप्रासंगिक या तिथिबाह्य नहीं होने वाली। उपनिषद् सीधे-सीधे मन की बेचैनी को सम्बोधित करते हैं, मनुष्य के अस्तित्व के मूल प्रश्नों का उत्तर देते हैं। वे हमें हमारे बंधनों से परिचित करा कर मुक्ति की ओर प्रेरित करते हैं। जब तक मनुष्य है तब तक उसके मन में बंधन भी हैं, अतः जब तक मनुष्य है तब तक उपनिषद् आवश्यक, सहायक व प्रासंगिक रहेंगे। उपनिषदों को ही वेदान्त कहा जा सकता है। तो आज वेदों का अर्थ वेदान्त से ही लगाया जाना चाहिए। तो जब हम कहते हैं कि सनातन धर्म की केंद्रीय पुस्तक वेद हैं, तो उसको ऐसे पढ़ा जाना चाहिए कि

सनातन धर्म की केंद्रीय पुस्तक वेदान्त है। वेदान्त माने उपनिषद्, वेदान्त माने वेदों का ज्ञानकाण्ड, वेदान्त माने वेदों का अमृत, वेदान्त माने वेदों का वह भाग जो कालातीत है।

तो ये बात स्पष्ट होनी चाहिए कि वास्तविक सनातन धर्म वेदान्त ही है, बाकी सब कुछ तुलनात्मक रूप से कम महत्व का है। तो फिर पुराणों व अन्य पुस्तकों को कैसे देखें, व उनका क्या स्थान है? – जिस सीमा तक पुराण वेदान्त के सिद्धांतों का अनुगमन करते हैं व वेदान्त को अभिव्यक्ति देते हैं, उस सीमा तक पुराणों को स्वीकार किया जाना चाहिए। पर पुराणों में ऐसा बहुत कुछ है जो सीधे-सीधे वेदान्त के विरुद्ध है। पुराणों व अन्य पुस्तकों के ऐसे सभी भागों को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए जो वेदान्त के प्रकाश में असंगत दिखाई देते हैं, और जो वेदान्त की सीख के विरुद्ध हैं। सत्य दो नहीं हो सकते, कोई भी धर्म दो, दस, या दो-हज़ार परस्पर विरोधी सत्यों को यदि एक-साथ लेकर चलेगा तो वो बलहीन और विक्षिप्त-सा ही रहेगा। उपनिषदों के अर्थ विद्वानों द्वारा कुछ अलग-अलग तरीके से किये जा सकते हैं (जैसे अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टअद्वैत, आदि) लेकिन फिर भी सभी विद्वान् एकमत हैं वेदान्त के मूल सिद्धांतों के विषय में। समकालीन हिन्दू धर्म के तौर-तरीके, अधिकांश प्रथाएँ, मान्यताएँ, विधि-विधान, और तीज-त्यौहार वेदान्त से बिलकुल भी मेल नहीं खाते। अधिकांशतः आज हम हिन्दू धर्म के नाम पर जो पाते हैं वो अज्ञान और अन्धकार से भरी मान्यताएँ, और अर्थहीन और लाभहीन परम्पराएँ मात्र हैं। और यही मूल कारण है सनातन समुदाय की तेज़हीनता व संकुचन का।

सनातन धर्म के अनुयायियों में यदि ज्ञान, तेज़, और शक्ति का संचार करना है तो उसका एक ही तरीका है – सनातन धर्म को उसके मूल से जोड़ना। हमें यह स्पष्ट समझना होगा और उद्घोषणा करनी होगी कि मात्र वेदान्त ही सनातन धर्म है, और जो कुछ वेदान्त-विरुद्ध है, वो दूषण की तरह त्याज्य है।

वेद कम-से-कम चार से पाँच-हज़ार वर्ष पुराने हैं। और भारत देश अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बर्मा तक, और कश्मीर से कन्याकुमारी तक विस्तृत रहा है। इतने बड़े क्षेत्रफल के इतने लम्बे इतिहास में इसकी सीमाएँ सदा खुली रही हैं और तमाम तरह के विदेशी प्रभाव भी इसपर पड़ते रहे हैं। स्पष्ट ही है कि सनातन धर्म के प्रामाणिक मर्म पर समय की धूल की असंख्य परतें जम गयी हैं। धूल की इन परतों के नीचे वास्तविक सनातन धर्म कहीं खो सा गया है। आज धर्म को पुनरुद्धार की ज़रूरत है ताकि धर्म हमारा पुनरुद्धार कर सके। समय और बाहरी प्रभावों की धूल इतनी जम गयी है कि धर्म को स्नान की आवश्यकता है।

विडंबना है कि सम्पूर्ण विश्व भली-भाँति समझता है कि हिन्दू धर्म में वेदान्त ही वास्तविक दार्शनिक केंद्र हैं। वैदिक धर्म में वेदान्त का जो मर्म है उससे दुनिया-भर ने

लाभ उठाया। चाहे भारत में वो बौद्ध, जैन, या सिख धाराएँ हों, या पश्चिम में प्राचीन यूनान या आधुनिक यूरोप – इन सभी ने भली-भाँति समझा है कि वैदिक धर्म में क्या मूल्यवान है और क्या मूल्यहीन। सनातन धारा में जो मूल्यहीन था उसी को त्यागकर बौद्ध, जैन, और सिख धाराएँ खड़ी हुईं। और आज भी सनातन धारा में जो मूल्यहीन है (कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज़, अंधविश्वास, आदि) पश्चिम उसका उपहास करता है, और सनातन धारा में जो मूल्यवान (वेदान्त) है, पश्चिम दोनों हाथ जोड़कर उसका अभिनन्दन करता है। कितनी विचित्र बात है कि पूरी दुनिया जानती है कि सनातन धर्म के पास कितनी धूल है, और एक चमकता हुआ हीरा भी है। सिर्फ़ सनातनी ही नहीं जानते कि धूल किसे कहें और हीरा किसे कहें। हमने धूल को हीरे की जगह दे रखी है, और हीरे के प्रति उपेक्षा रखते हैं। उपनिषदों को घर-घर पहुँचना ही होगा। नचिकेता, रैक्व, सत्यकाम, श्वेतकेतु, उद्दालक, और याज्ञवलक्य को बच्चे-बूढ़े सबके मन और मुहावरों में शामिल करना ही होगा। श्वेताश्वतर, गार्गी, मैत्रेयी व आरुणि को सुप्रचलित और घरेलू नाम बनना ही होगा।

सनातन धर्म के सामने आज दो रास्ते हैं: या तो धूल को ही सम्मान देते रहो, धूल को ही अपनी पहचान बना लो, और पाओ कि तेजी से पूरा धर्म ही धूल हुआ जा रहा है। या फिर हीरे की, वेदान्त की शरण में जाओ, वेदान्त में जगमगाते सत्य को सम्मान दो, और विश्व में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त करो।

व्यक्तिगत तौर पर यदि हमें शक्ति और मुक्ति चाहिए, और विश्व में यदि हमें सम्मान चाहिए तो वेदान्त के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं। 'घर-घर उपनिषद्' के माध्यम से हम अथक प्रयत्न कर रहे हैं कि उपनिषदों को उनका स्थान व सनातन धर्म को उसका गौरव पुनः प्राप्त हो।

संस्कृति व धर्म

संस्कृति धर्म से अलग नहीं हो सकती। आदर्श स्थिति तब है जब समाज में प्रचलित संस्कृति का स्रोत शुद्धतम धर्म-मात्र हो। जब कभी ऐसी स्थिति आएगी कि संस्कृति धर्म से विलग और विमुख हो जाएगी, तब ऐसी अपसंस्कृति वाले समाज का पतन व पराभव निश्चित है।

भारतीय धर्म है वैदिक धर्म, वेदों का शीर्ष हैं उपनिषद्। लेकिन उपनिषदों की जो बातें हैं वो कुछ लोगों के लिए थोड़ी क्लिष्ट हैं समझने में। जो अभी परिपक्व बुद्धि के ना हों, उनके लिए वेदान्त ज़रा जटिल है। सब तक उपनिषदों का संदेश साफ़-साफ़ पहुँच सके इसके लिए पुराणों की रचना हुई। और इतिहास-काव्य हैं जैसे रामायण, महाभारत – इन सब में भी वेदान्त के सूत्रों को जनमानस तक लाने का प्रयास किया गया।

पुराण कहानियों से भरे हुए हैं और वो कहानियाँ जनसाधारण में प्रचलन में आ गयी हैं। लेकिन दो समस्याएँ हैं: पहली ये कि पुराणों की रचना भी वेदों के लगभग एक-हज़ार वर्ष बाद कई शताब्दियों तक होती रहीं, और सभी पुराणों के सभी भाग वेदसम्मत नहीं हैं। दूसरी ये कि पुराणों की जो पांडुलिपियाँ देश के अलग-अलग हिस्सों से मिलती हैं, उनमें आपस में बहुत अंतर हैं। स्पष्ट ही है कि पुराणों आदि में बहुत से भाग प्रक्षिप्त हैं, मिलावटी हैं। इसी प्रकार रामायण के न जाने कितने परस्पर-विरोधी संस्करण हमें भारत भर में देखने को मिलते हैं।

पिछले एक-हज़ार वर्षों में भारतीय संस्कृति विदेशी प्रभावों को सोखती रही है। पर फिर भी, भारतीय संस्कृति आज भी व्यावहारिक रूप से पौराणिक कहानियों-मान्यताओं तथा रामायण-महाभारत आदि इतिहास-काव्यों पर ही आधारित है। विशेषकर, पुराणों के कुछ अंश तो प्रक्षिप्त और वेदान्त-विरुद्ध हैं। और कुछ कहानियों व निर्देशों में सौन्दर्य भी है, और सत्य भी। पर अभी हालत ये है कि हमारे पास बस वो कहानियाँ हैं, उन कहानियों का मर्म समझा देने वाली कुंजी हमारे पास नहीं है। अगर उपनिषद् समझ में आ गए, कुंजी हाथ लग गई, सिर्फ़ तब हम भारतीय संस्कृति के एक-एक प्रतीक का सही अर्थ कर पाएँगे।

और अर्थ ऐसा खुलेगा कि हम अचंभित रह जाएँगे, "खजुराहो का ये अर्थ है! महाबलेश्वर का ये अर्थ है! उज्जैन का ये अर्थ है! ऋषिकेश का ये अर्थ है! शक्तिपीठों का ये अर्थ है! तीर्थों का ये अर्थ है!”

आज हम संस्कृति के प्रदूषण व पतन को लेकर अकसर व्यथित दिखायी देते हैं। मंचों पर इस विषय पर भाषण दिए जाते हैं, सड़कों पर नारे भी लगा दिए जाते हैं। पर

सिर्फ़ शोर मचाने से नहीं होगा, "संस्कृति! स्वधर्म! स्वदेशी!" नारे लगाने से नहीं होगा। धर्म और संस्कृति का संबंध हृदय से होता है। जब आपके हृदय को कोई चीज़ भा जाती है, तब आपको नारे नहीं लगाने पड़ते उस चीज़ के पक्ष में। और भूलिए नहीं कि सच सबको प्यारा होता है। सच वेदान्त में है, बस उसे जनसामान्य तक पहुँचाने की आवश्यकता है।

अति संक्षिप्त ग्रंथ हैं उपनिषद् और भारतीय दर्शन का मुकुट हैं, शीर्ष हैं, ताज हैं। और दुनिया भर में जिन भी लोगों ने विचार की गहराइयों को छुआ है और दर्शन के समुद्र में गोते लगाए हैं, उन सब ने उपनिषदों की न सिर्फ़ प्रशंसा की है बल्कि उनको पूजा है।

आपकी संस्था अपनी ओर से पूरी कोशिश कर रही है कि वेदान्त को जन-जन तक पहुँचाया जाए। उसी से अध्यात्म है, और फिर उसी से संस्कृति है, और फिर उसी से भारत का भविष्य भी है। तो जितना प्रयास हम कर सकते हैं, कर रहे हैं। अगर आप वाकई भारतीय संस्कृति को लेकर चिंतित हैं तो आइए, साथ जुड़िए, सहायता करिए। बड़ा विशाल अभियान है, सब की सहभागिता की ज़रूरत है।

वेदान्त के प्रमुख सूत्र

1. अहं ब्रह्मास्मि — "मैं ब्रह्म हूँ" (बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण, श्लोक क्रमांक १०)

2. तत्त्वमसि — "वह ब्रह्म तू है" (छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, अष्टम खण्ड, श्लोक क्रमांक ७)

3. अयम् आत्मा ब्रह्म — "यह आत्मा ब्रह्म है" (माण्डूक्य उपनिषद्, अध्याय १, श्लोक २)

4. प्रज्ञानं ब्रह्म — "प्रज्ञान ही ब्रह्म है" (ऐतरेय उपनिषद् १/२)

5. सर्वं खल्विदं ब्रह्मम् — "सब ब्रह्म ही है" (छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, चतुर्दश खण्ड, श्लोक १)

6. सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन — "सत्य की ही जीत होती है, असत्य की नहीं" (मुण्डक उपनिषद्, तृतीय मुण्डक, प्रथम खण्ड, श्लोक ६)

7. एकमेवाद्वितीयं (एकं एवं अद्वितीयं) — "ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी सत्ता नहीं है।" (छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, द्वितीय खण्ड, श्लोक १)

8. असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय — "मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो, मुझे मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चलो।" (बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय १, तृतीय ब्राह्मण, श्लोक २८)

9. तत्त्वमेव त्वमेव तत् — "वह तुम ही हो, तुम वही हो" (कैवल्योपनिषद्, श्लोक १६)

10. न सम्द्रसे तिस्थति रूपम् अस्य, न कक्सुसा पश्यति कस कनैनम — "उसे कोई देख नहीं सकता, उसको किसी की भी आँखों से देखा नहीं जा सकता" (श्वेताश्वतर उपनिषद्, अध्याय ४, श्लोक २०)

11. नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो — "यह आत्मा बलहीनों के द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती।" (मुण्डक उपनिषद्, तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड, श्लोक ४)

12. ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर — "ओ३म। हे दिव्य संकल्पशक्ति! स्मरण कर, जो किया था उसे स्मरण कर! हे दिव्य संकल्पशक्ति, स्मरण कर, किये हुए कर्म का स्मरण कर।" (ईशोपनिषद्, श्लोक १७)

13. विद्यया विन्दतेऽमृतम् — आत्मा स्वयं अमर है, और मनुष्य को अमर बनने के लिए केवल उसे जान लेने की आवश्यकता है। (श्लोक अनुसार अर्थ - विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति होती है।) (केनोपनिषद्, द्वितीय अध्याय, श्लोक ४)

14. नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य — "छोटे और सीमित रहने में कोई सुख नहीं, विशाल होने में ही सुख है। विशाल बनो!" (छान्दोग्योपनिषद्, अध्याय ७, खण्ड २३, श्लोक १)

15. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः — 'मन' ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है (ब्रह्मबिंदूपनिषद्, श्लोक २)

16. ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते — "वह (अज्ञात ब्रह्म) पूर्ण है, यह (प्रतीत ब्रह्मांड) पूर्ण है; यह पूर्णता उस पूर्णता से उद्‌भूत हुई है" (शांतिपाठ, ईशावास्य उपनिषद्)

17. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति — "उठो, जागो, और श्रेष्ठ जनों के पास जाकर बोध ग्रहण करो। विद्वान् मनीषी जनों का कहना है कि ज्ञान प्राप्ति का मार्ग उसी प्रकार दुर्गम है जिस प्रकार छुरे के पैना किये गये धार पर चलना" (कठ उपनिषद्, अध्याय १, वल्ली ३, श्लोक १४)

18. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति — "यह (अस्तित्व) जो बहुत अच्छी तरह तथा सुन्दरता से रचा गया है यह वस्तुतः अन्य कुछ नहीं, इस अस्तित्व के पीछे छिपा हुआ आनन्द, रस ही है। जब प्राणी इस आनन्द को, इस रस को प्राप्त कर लेता है तो वह स्वयं आनन्दमय बन जाता है (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली अथवा द्वितीय खण्ड, अनुवाक ७, श्लोक १)

19. तत्सत्यं स आत्मा — "वही सत्य है, वही आत्मा है" (छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खण्ड ८, श्लोक ७)

20. नाहं कालस्य, अहमेव कालम — "मैं समय में नहीं हूँ, समय मुझमें है" (महानारायण उपनिषद्, अध्याय ११, श्लोक १४)

१०८ उपनिषदों की सूची

1. ईशावास्य उपनिषद्
2. केन उपनिषद्
3. कठ उपनिषद्
4. प्रश्न उपनिषद्
5. मुण्डक उपनिषद्
6. माण्डूक्य उपनिषद्
7. तैत्तिरीय उपनिषद्
8. ऐतरेय उपनिषद्
9. छान्दोग्य उपनिषद्
10. बृहदारण्यक उपनिषद्
11. ब्रह्म उपनिषद्
12. कैवल्य उपनिषद्
13. जाबाल उपनिषद्
14. श्वेताश्वतर उपनिषद्
15. हंस उपनिषद्
16. आरुणेय उपनिषद्
17. गर्भ उपनिषद्
18. नारायण उपनिषद्
19. परमहंस उपनिषद्
20. अमृतबिन्दु उपनिषद्
21. अमृत-नाद उपनिषद्
22. अथर्व-शिर उपनिषद्
23. अथर्व-शिख उपनिषद्
24. मैत्रायणि उपनिषद्
25. कौषीताकि उपनिषद्
26. बृहज्जाबाल उपनिषद्
27. नृसिंहतापनीउपनिषद्
28. कालाग्निरुद्र उपनिषद्
29. मैत्रेयि उपनिषद्
30. सुबाल उपनिषद्
31. क्षुरिक उपनिषद्
32. मान्त्रिक उपनिषद्
33. सर्वसार उपनिषद्

34. निरालम्ब उपनिषद्
35. शुक-रहस्य उपनिषद्
36. वज्रसूचि उपनिषद्
37. तेजो-बिन्दु उपनिषद्
38. नाद-बिन्दु उपनिषद्
39. ध्यानबिन्दु उपनिषद्
40. ब्रह्मविद्या उपनिषद्
41. योगतत्त्व उपनिषद्
42. आत्मबोध उपनिषद्
43. परिव्रात् उपनिषद्
44. त्रि-षिखि उपनिषद्
45. सीता उपनिषद्
46. योगचूडामणि उपनिषद्
47. निर्वाण उपनिषद्
48. मण्डलब्राह्मण उपनिषद्
49. दक्षिणामूर्ति उपनिषद्
50. शरभ उपनिषद्
51. स्कन्द उपनिषद्
52. महानारायण उपनिषद्
53. अद्वयतारक उपनिषद्
54. रामरहस्य उपनिषद्
55. रामतापणि उपनिषद्
56. वासुदेव उपनिषद्
57. मुद्गल उपनिषद्
58. शाण्डिल्य उपनिषद्
59. पैंगल उपनिषद्
60. भिक्षुक उपनिषद्
61. महत् उपनिषद्
62. शारीरक उपनिषद्
63. योगशिखा उपनिषद्
64. तुरीयातीत उपनिषद्
65. संन्यास उपनिषद्
66. परमहंस-परिव्राजक उपनिषद्
67. अक्षमालिक उपनिषद्
68. अव्यक्त उपनिषद्
69. एकाक्षर उपनिषद्

70. अन्नपूर्ण उपनिषद्
71. सूर्य उपनिषद्
72. अक्षि उपनिषद्
73. अध्यात्म उपनिषद्
74. कुण्डिक उपनिषद्
75. सावित्रि उपनिषद्
76. आत्मा उपनिषद्
77. पाशुपत उपनिषद्
78. परब्रह्म उपनिषद्
79. अवधूत उपनिषद्
80. त्रिपुरातपनि उपनिषद्
81. देवी उपनिषद्
82. त्रिपुर उपनिषद्
83. कठरुद्र उपनिषद्
84. भावन उपनिषद्
85. रुद्र-हृदय उपनिषद्
86. योग-कुण्डलिनि उपनिषद्
87. भस्म उपनिषद्
88. रुद्राक्ष उपनिषद्
89. गणपति उपनिषद्
90. दर्शन उपनिषद्
91. तारसार उपनिषद्
92. महावाक्य उपनिषद्
93. पञ्च-ब्रह्म उपनिषद्
94. प्राणाग्नि-होत्र उपनिषद्
95. गोपाल-तपणि उपनिषद्
96. कृष्ण उपनिषद्
97. याज्ञवल्क्य उपनिषद्
98. वराह उपनिषद्
99. शात्यायनि उपनिषद्
100. हयग्रीव उपनिषद्
101. दत्तात्रेय उपनिषद्
102. गारुड उपनिषद्
103. कलि-सण्टारण उपनिषद्
104. जाबाल(सामवेद) उपनिषद्
105. सौभाग्य उपनिषद्

106. सरस्वती-रहस्य उपनिषद्
107. बह्वृच उपनिषद्
108. मुक्तिका उपनिषद्

मन: हज़ार जुनून, एक सुकून

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, समझाने वालों से हमेशा सुना है कि मन के विरुद्ध सावधान रहना चाहिए। लोग हमें कहते हैं कि मन के मते ना चालीये, लेकिन इच्छाओं, भावनाओं, और मन की लहरों से ऊपर उठने की कोई संभावना होती भी है? मन के पार जाना या मन से ऊपर उठना, अर्थ क्या है इसका?

आचार्य प्रशांत : पहले, जिसको आप मन कहते हो उसको समझना पड़ेगा, फिर समझ में आएगा कि मन के पार जाना या मन से ऊपर उठना ये बात क्या है, इसमें दम कितना है। ये जो कहा न इच्छाएँ हैं, भावनाएँ हैं, मन की लहरें हैं, यही मन है। और इसमें ये जो इच्छाएँ उठती हैं, ये विचार आते हैं, भावनाएँ आती हैं, ये आपसे पूछ कर नहीं आतीं, आपकी सहमति से भी नहीं आतीं। मन अपने आपमें एक व्यवस्था है जो आपने बनायी नहीं है और जो आपके नियंत्रण में नहीं है। इसमें जो हो रहा है स्वयं ही हो रहा है, आपकी सहमति से नहीं हो रहा, आपकी अनुमति से नहीं हो रहा। मन आपसे पूछ कर नहीं चल रहा। हाँ आप ज़रूर मन के ग़ुलाम बन जाते हैं, जो भी भावना विचार वगैरह उठ रहे हैं आप उनके पीछे-पीछे चलने लग जाते हैं।

अब ये जो व्यवस्था है जिसको मन बोलते हैं ये बहुत पुरानी है, और इसका अपना एक उद्देश्य है। इसका उद्देश्य बस इतना ही है कि चलते रहो, ये एक चलती हुई व्यवस्था है जो बस चलते रहना चाहती है, उसको वास्तव में कहीं पहुँचना नहीं है, इसको बस चलते रहना है, बस गोल-गोल चक्कर में घूमते रहना है। वो चक्र में ना घूम रही होती तो शायद कहीं पहुँच भी जाती, पर उसके पास बस एक चक्र है। इच्छा करना, पाना, भोगना, फिर असंतुष्ट हो जाना, फिर इच्छा करना, फिर पाना, फिर भोगना, फिर असंतुष्ट हो जाना, जैसे अब एक चक्र हो गया न? तो ये एक मानसिक व्यवस्था है। इसी तरह से जन्म लेना, तमाम तरह के बंधनों में बंधे रह कर जीना, और फिर मर जाना और मरने से पहले अपने ही जैसा जीवन जीने के लिए कुछ और लोगों को पैदा करके छोड़ जाना – ये एक मानसिक चक्र है, ये चल रहा है।

इसी से आपके विचार आते हैं, इसी से आपकी भावनाएँ आती हैं, इसी से आपकी चंचलताएँ आती हैं, इसीलिए आपको पता नहीं चलता और आप भावुक हो जाते हो, या क्रोधित हो जाते हो, बहक जाते हो, फिसल जाते हो, सो जाते हो। फिर बाद में कई बार सोचते भी हो कि ‘अरे! उस समय मैंने ऐसी बात कैसे कह दी?’ वो इसीलिए कह दी क्योंकि जो बात कही गयी आपसे पूछ कर नहीं कही गयी।

आपके सामने कोई चीज़ आती है, तुरंत आपको विचार आ जाता है कि इस चीज़ को चुन लेते हैं या इस चीज़ को उठा लेते हैं। अब विचार तो आपको बता रहा है कि क्या चुनो, लेकिन इस विचार को आपने नहीं चुना था। आपके सामने कुछ खाने का रखा है और तुरंत आपको विचार आ गया कि चलो इसे खा लेते हैं। तो विचार ने क्या कह दिया है कि क्या चुनाव करो? खाने का चुनाव करो, विचार आपको बता रहा है कि खाने का चुनाव करो। लेकिन क्या आपने चुना था कि ये आपको विचार आए? देख रहे हो विचार पर आपका चुनाव नहीं चल रहा, लेकिन आपके चुनाव पर विचार का पूरा नियंत्रण, पूरा अधिकार हो गया है।

तो ये ग़ुलामी की हालत है, इसीलिए समझाने वालों ने कहा है कि विचार से सतर्क रहो। वो तुमसे पूछ कर नहीं चलता, उसके अपने चक्कर हैं, अपने इरादे हैं, उसकी अपनी व्यवस्था है। तुम क्यों उसकी व्यवस्था का शिकार हो जाते हो? क्योंकि जहाँ तक तुम्हारी बात है, तुम अपने लिए एक अलग प्रयोजन रखते हो जीवन का। तुम्हारा प्रयोजन है आज़ाद जियूँ, भरपूर जियूँ। और जहाँ तक मन की बात है, उसका प्रयोजन बस ये है कि जैसी आज तक जीवन की व्यवस्था चलती रही है वो तुम भी जी लो।

तुमसे पुछा जाए तो शायद तुम कह दोगे कि ‘भले ही कम जियूँ लेकिन ऊँचा जियूँ या गहरा जियूँ’। मन की जो प्राकृतिक व्यवस्था है उसमें ऊँचाई या गहराई के लिए कोई जगह नहीं है, वहाँ बस ये है कि जिए जाओ जिए जाओ। समझ में आ रही है बात?

तो ये दो अलग इकाइयाँ हो गयीं – एक मन और एक तुम, एक मन और एक तुम। इसी को थोड़ा और शास्त्रीय भाषा में कह सकते हो प्रकृति और पुरुष, या संसार और 'मैं', माने अहम्। समझ में आ रही है बात? किसी भी नाम से इन दोनों को पुकार लो, एक बात पक्की है ये दोनों अलग-अलग हैं भाई। और ये जितना अलग रखे जाएँ उतना ज़्यादा अच्छा है। किसके लिए? तुम्हारे लिए, माने अहम् के लिए उतना ज़्यादा अच्छा है कि जितने अलग रहेंगे। और जितना ज़्यादा तुम प्रकृति की व्यवस्था से लिप्त रहोगे, उतना ज़्यादा अपूर्ण इच्छाओं के शिकार रहोगे।

लावारिस होती हैं वो इच्छाएँ, तुम्हें कुछ पता नहीं होगा कहाँ से आ रहीं हैं, और गुमनाम होती हैं, अपना पता ठिकाना नहीं बतातीं, बस आ जाती हैं। तुम्हें पता है तुम्हारी इच्छाएँ कहाँ से आती हैं? तुम्हें पता है तुम्हारी इच्छाओं का स्रोत कौन है? तो इच्छाएँ क्या हुईं फिर? लावारिस! बस इच्छा कहीं से आ जाती है एक गुमनाम अजनबी की तरह और हमपर कब्ज़ा करके चली जाती है। और फिर हमारा क्या काम है? एक ग़ुलाम की तरह उस इच्छा को पूरी करने की पूरी कोशिश करते रहना, और उसमें अपनी ऊर्जा लगा देना, समय लगा देना, ज़िन्दगी लगा देना।

तो ग़ुलामी तो ग़ुलामी, ये एक ऐसी ग़ुलामी है जिसमें तुम्हें अपने मालिक का नाम तक नहीं पता। ग़ुलामी तो ग़ुलामी, ये एक ऐसी ग़ुलामी है जिसमें तुम्हें पता भी नहीं होता कि तुम कितने बड़े ग़ुलाम हो। इसलिए समझाने वाले कह गए हैं न कि मन के मते ना चालिये। मन के मते चलने का मतलब है बहुत-बहुत गहरी ग़ुलामी।

अब दूसरी बात तुमने पूछी है कि मन के पार या मन के आगे भी कुछ है क्या? देखो वो बस एक मुहावरा है। समझाने के लिए एक बात कह दी गयी है कि मन के आगे निकलो, मन के पार जाओ। मन के आगे की ज़्यादा बात करोगी तो यही पता चलेगा कि मन के आगे और भी मन है, मन-ही-मन है। जिस चीज़ की बात कर सको वो मन ही है, जिस भी चीज़ की बात कर सको, कल्पना कर सको वो सब मन है। तो मुद्दा ये नहीं है कि मन के आगे क्या है, या पार क्या है, मुद्दा ये है कि तुम्हें सीमाओं का पता होना चाहिए। मन के आगे की जब तुम बात करते हो तो तुम ये कह रहे हो कि मन की सीमा से आगे जाना है। मन की सीमा से आगे जाना कोई ज़रूरी नहीं है, लेकिन इतना तो तुम्हें पता हो न कि अभी जो कुछ चल रहा है वो मन की सीमा के अंदर ही चल रहा है, माने मानसिक ही है – ये पता होना ज़रूरी है। क्या हमें ये पता नहीं होता अक्सर? हाँ, हमें ये पता नहीं होता। जो कुछ मानसिक होता है हम उसको असली समझ बैठते हैं।

एक उदाहरण दिए देता हूँ छोटा-सा, आपको कोई भावना आ रही है, कोई फ़ीलिंग – और हम सबको आती है, ऐसा तो कोई है नहीं जिसे नहीं आती – और जिस क्षण में आपको वो भावना अनुभव हो रही है, उस क्षण में वो भावना आपके लिए सच है। सच है कि नहीं है? समझाने वालों ने बहुत कहा है, मैं भी आपसे अभी कहना चाहता हूँ, आपके अनुभव में वो निश्चित रूप से सच है पर वो सच है नहीं, आपको प्रतीत हो रही है, आपको अनुभव हो रही है कि सच है, पर वो वास्तव में सच है नहीं। समझ रहे हैं?

अब वो चीज़ है मन की सीमा के भीतर की, लेकिन हमने उसको मान लिया है सत्य, अब हम फँसेंगे। हम बहुत फँसेंगे, जैसे कोई धुंएँ को पहाड़ मान ले, जैसे कोई आइने में देखी छवि को या किसी तस्वीर को इंसान मान ले। फँसेगा न? वैसे ही मन की सीमाओं के भीतर जो कुछ भी चल रहा होता है उसको तुमने अगर सच मान लिया तो बहुत बुरा फँसोगे। तो सवाल उठता है, उसको क्या मानें? झूठ माने? नहीं, बड़ा मुश्किल हो जाएगा उसको झूठ मानना, तो बस ये मान लो कि मानसिक है, जो हो रहा है मानसिक है।

भीतर से बड़ी बेचारगी उठ रही है, हाँ उठ तो रही है, अनुभव हो रही है, हम ये नहीं कहेंगे कि 'नहीं हमें ऐसी कोई बेचारगी अनुभव नहीं हो रही', हो तो रही है। तो वो सच है बेचारगी या झूठ है जो भावना अनुभव हो रही है? देखो सच तो है नहीं, और झूठ उसे कह नहीं सकते। क्यों नहीं कह सकते झूठ? क्योंकि अनुभव तो हो ही रही है बस इतना कह देंगे कि मानसिक है। समझ में आ रही है बात?

एक बार तुमने कह दी कोई चीज़ मानसिक है, तो तुमने उसे मन की सीमा के भीतर रख दिया। बस यही करना बहुत ज़रूरी है, मन है, मन है, मन है। और होता ये है कि जो व्यक्ति जानने लग जाता है कि क्या-क्या है और कितना कुछ है मन की सीमा के भीतर, वो सीमा तक पहुँच जाता है। सीमा के पार क्या है ये सब मत पूछना, सीमा तक पहुँच जाओ ये ही बड़ी बात है।

क्योंकि मन के पार अगर कुछ है भी तो उसकी ऐसे चर्चा नहीं की जा सकती। क्यों नहीं की जा सकती? क्योंकि मन के भीतर क्या है? मन के भीतर सारा संसार है, और मन के भीतर तुम भी तो बैठे हुए हो जो संसार का अनुभव लेते रहते हो वहीं बैठकर के। तुम पर भी बिलकुल छाप और छाया पड़ी हुई है पूरे संसार की क्योंकि तुमने उम्र भर करा क्या है? संसार के प्रभावों को ही तो सोखा है। अब अगर मन के पार की बात करोगे तो ज़ाहिर-सी बात है वहाँ संसार तो नहीं, क्योंकि संसार कहाँ है? मन के भीतर।

संसार भी नहीं, और तुम भी नहीं। क्योंकि मन के भीतर तुम दोनों ही थे ‘संसार और मैं’, ये जो ‘मैं’ है न ये भी मन के भीतर ही घूमता रहता है। मन के बाहर तो ‘मैं’ भी नहीं, जब ‘मैं’ भी नहीं तो मन के बाहर अगर कुछ है भी तो उसकी बात ही कौन करेगा। इसीलिए मन के पार वगैरह की बात बेईमानी जैसी हो जाती है। लोग कहते हैं मन के पार निकल आए ‘मैं’ को बचाए-बचाए – कैसे संभव है? मन के पार तो पार की बात करने वाला ‘मैं’ भी तो नहीं बचेगा न। तो बात कौन करेगा? तो वो बातचीत हम करना नहीं चाहते।

अध्यात्म का बिलकुल कोई उद्देश्य नहीं है मन के पार के किस्से बनाने में। ऐसा प्रकाश होता है, ऐसा अनुभव होता है, ऐसा आनंद होता है, ऐसा रस होता है, ऐसा नाद बजता है मन के पार। इस तरह की बातें अगर कहीं हो रहीं हों तो इतना तो जान लेना कि वो बातें आध्यात्मिक नहीं, वो बातें भी मानसिक ही हैं।

अध्यात्म मन के पार की बातें करने का नाम नहीं है। मन के भीतर जो कुछ है उसको साफ़-साफ़ समझ लेने का नाम है। छोड़ो मन के पार क्या है, मन के भीतर जो कुछ है बस तुम उसको सच का नाम मत दो। दोहरा रहा हूँ, जो कुछ भी है, तुम, तुम्हारी भावनाएँ, तुम्हारे विचार, ये पूरा संसार, ये दिखे, ये अनुभव हो, ये ज़ोर डाले, ये बार-बार अपना एहसास दिलाए – तुम हामी भरो, तुम सर हिला कर कहो, ‘हाँ तुम प्रतीत तो हो रहे हो, अनुभव तो तुम खूब होते हो’, मुस्कुरा दो, ‘लेकिन फिर भी मैं ये नहीं बोलूँगा कि तुम वास्तविक हो। तुम वास्तविक कैसे हो सकते हो?’ कोई चीज़ अगर वास्तव में है तो उस चीज़ से बिलकुल भिन्न कोई इकाई चाहिए न जो उसको सत्यापित कर देगी?

अब ये खम्बा है, हम इसीलिए कह पाते हैं न कि ये खम्बा है क्योंकि यहाँ पर पाँच लोग बैठे हैं और पाँचों उस खम्बे से बिलकुल भिन्न हैं, अलग हैं, और पाँचों कह पाते हैं, सर्टीफ़ाइ कर पाते हैं कि खम्बा है। तो किसी चीज़ के होने के लिए ज़रूरी है कि उससे बिलकुल भिन्न कोई दूसरी चीज़, कोई दूसरी इकाई आकर के उसका सत्यापन, वेरिफ़िकेशन कर दे, फिर ठीक है।

लेकिन अगर मामला कुछ ऐसा हो कि एक जगह है जहाँ पाँच लोग हैं, और पाँचों एक-दूसरे के रिश्तेदार ही हैं, और पाँचों एक-दूसरे को सत्यापित करते हुए, सर्टिफ़ाइ करते हुए कह रहे हैं कि 'साहब हम तो पाँचों बहुत ईमानदार हैं।' तो क्या हम मान सकते हैं कि पाँचों ईमानदार हैं? क्यों नहीं मान सकते? क्योंकि वो सब एक-दूसरे के रिश्तेदार हैं, वो एक दूसरे से बिलकुल भिन्न नहीं हैं, उनमें आपस में रिश्ता है।

जिन दो में आपस में रिश्ता हो वो एक दूसरे को कभी भी सच्चाई से जान नहीं सकते, क्योंकि वो एक दूसरे से ही बने हैं, उनमें से एक के पास ये शक्ति नहीं है कि वो दूसरे को बिलकुल विरक्त हो करके, निरपेक्ष हो करके देख सके। जब देख ही नहीं सकता तो उसकी सच्चाई कैसे पता चलेगी? या पता चल सकती है? नहीं चल सकती न? अब देखो कि संसार में और अहम् में क्या रिश्ता है। ये जो 'हम' हैं, ये बने ही किससे हैं? संसार से। जब हम बने ही संसार से हैं तो हम ये कैसे कह पाएँगे कि संसार झूठ है? नहीं कह सकते न?

सामने गेंहूँ रखा है, तुम कह सकते हो कि गेहूँ झूठा है? जो ज़बान तुम चलाओगे ये कहने के लिए कि गेंहूँ झूठा है, वो ज़बान भी किससे बनी है? गेहूँ से ही बनी है। तो रिश्ता है जैसे उन पाँच लोगों में आपस में रिश्ता था और इसलिए उन पाँचों की एक दूसरे के बारे में कही गयी बात मानी नहीं जा सकती। उस बात की कोई वैलिडिटी , ऑथेंटिसिटी नहीं मानी जाएगी न? ठीक इसी तरीके से इंसान संसार के बारे में जो कुछ कहता है उसमें कोई दम नहीं होगा। क्योंकि हमने अपनी सारी पहचानें ही कहाँ से ली हैं? दुनिया से ली हैं। वो पहचानें हमें दुःख देती हों, दर्द देती हों, जो भी देती हैं, लेकिन अब दुनिया से ले तो ली हैं, और उन्हीं से हम अपनी हस्ती मानते हैं। समझ में आ रही है बात?

इसी चीज़ के ख़िलाफ़ सतर्क रहना है, कि 'जी, हम दुनिया में रहे हैं, हम, जिसने ये सवाल पूछा है जो सब लोग हम अनुभव लेते हैं, जी हम दुनिया में रहे हैं, लेकिन दुनिया चीज़ क्या है ये पता करने का हमारे पास कोई स्वतंत्र माध्यम नहीं है।' हमारे पास कोई रिलाएबल एजेंसी नहीं है जिससे हम दुनिया की सच्चाई पता कर सकें, क्योंकि हम बने ही किससे हैं? दुनिया से। तो दुनिया की सच्चाई पता करना बड़ा मुश्किल हो जाएगा, बहुत मुश्किल है।

दुनिया की सच्चाई इसीलिए कभी भी किसको पता चल सकती है? जो दुनिया से ना बना हो। तुम्हारे भीतर अगर कुछ ऐसा हो जो दुनिया से नहीं बना, सिर्फ़ वही इकाई, वही बिंदु, वही एजेंसी भीतर की दुनिया की सच्चाई का पता भी कर पाएगा, अन्यथा कुछ नहीं।

तो अब देखो, इतना कुछ मन के भीतर ही गड़बड़ चल रहा, और आप पूछ रहे हो कि मन के पार, मन के ऊपर कैसे जाना है – ये कोई पूछने की बात है? मन के भीतर ही इतने खेल चल रहे हैं, गड़बड़ियाँ चल रहीं हैं, बहुत कुछ ऐसा चल रहा है जो बहुत घातक है हमारे लिए, उसका तो पता करें। समझ गए बात को?

एक बात मैं थोड़ा-सा और बोलूँगा, ईमानदारी का तकाज़ा है, देखो, इस मुद्दे पर मैं पहले बहुत बार बोल चुका हूँ। और अभी मैं बोल रहा हूँ तुमसे लेकिन मुझे ये एहसास हो रहा है बोलते हुए, मैंने पहले जब बोला है कुछ ऐसी ही बातें समझाने के लिए तो शायद मैंने और सफ़ाई से बोला है, और ज़ोर से बोला है। ज़ोर से मतलब चिल्ला कर नहीं, और ऊर्जा के साथ बोला है। अभी मैंने आपसे बात करी शायद दस मिनट, पंद्रह मिनट, मैंने कुछ बोला होगा। इस मुद्दे पर पहले मैं शायद आधे घंटे, एक घंटे बोल चुका हूँ। तो इसमें मेरा निवेदन रहेगा कि पहले ही जो बोला जा चुका है उस पर थोड़ा ग़ौर करें। वक्ता भी हर समय एक-सी स्थिति में नहीं होता है, तो कभी लय बिलकुल बन जाती है, कभी कुछ कारणों से, परिस्थितियों से उतनी नहीं बनती है।

कई तरीकों से इस मुद्दे पर, मन के मुद्दे पर बोला जा सकता है, पहले बोला भी है, और अच्छा है कि वो सब रिकार्डेड भी है तो आप उसका फ़ायदा उठाइए। उन सब चीज़ों को देख लीजिएगा।

दस जगहों पर भटक रहा है मन

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी प्रणाम, मन सही समय पर सही निर्णय ले पाने में अक्षम है और तरह-तरह के लक्ष्यों में भटकता रहता है।

आचार्य प्रशांत: मन बाहर तरह-तरह के लक्ष्यों में इसीलिए भटकता रहता है क्योंकि मन को भीतर यह नहीं पता कि कौन सी एक चीज़ है जो उसको चाहिए। बाहर जितने भी लक्ष्य बनाते हो, बाहर जितनी भी चीज़ें आकर्षित करती हैं वह भीतर बैठे किसी चीज़ का प्रतिबिंब होती हैं।

अगर भीतरी तौर पर यह नहीं पता है कि कौन सी चीज़ जीवन में कीमती है तो बाहर भी कौन सी चीज़ कीमती है, क्या पाना चाहिए, किस लक्ष्य के पीछे समय, जीवन, ऊर्जा लगानी चाहिए यह स्पष्ट नहीं होगा। पर कुछ-न-कुछ तो करना ही है। मन, शरीर, ज़िंदगी यह सब गति के ही नाम हैं तो फिर उल-जलूल और अस्थाई लक्ष्यों के पीछे आदमी भागने लग जाता है। समझ में आ रही है बात?

पता नहीं है कि बाहर क्या चाहिए, किसकी तरफ बढ़े और चूँकि जीवन है तो एक जगह खड़े भी नहीं रह सकते तो फिर व्यक्ति किसी भी उटपटांग दिशा में बढ़ने लग जाता है और दिशा चूँकि मूल्यहीन है, व्यर्थ है तो उसकी तरफ बहुत देर तक चल भी नहीं पाता है। थोड़ी देर में रास्ते बदल कर, लक्ष्य बदल कर, मन बदल कर किसी और तरफ देखने लग जाता है, उधर को बढ़ लेता है। और सवाल हम यही पूछते हैं कि हमें अपना लक्ष्य बाहर का पता नहीं चल रहा।

इसमें जो मूल सिद्धांत हैं उस पर ध्यान दो। बाहर तुम क्या लक्ष्य बनाते हो यह इस पर निर्भर करता है कि भीतर तुम किस चीज़ को मूल्य देते हो। सीधी सपाट बात है। और बाहर अगर तुम्हारे पास तीस-चालीस-पचास लक्ष्य हैं जो बनते बिगड़ते रहते हैं तो इसका अर्थ यह है कि भीतर भी तुम पचास चीज़ों को मूल्य देते हो और उन पचासों चीज़ों में से किसी भी एक चीज़ को बहुत मूल्य नहीं देते, पूरा मूल्य नहीं देते।

ज़िंदगी में कोई भी ऐसी बात नहीं है जो तुम्हें प्राणों से ज़्यादा प्यारी हो, जो तुम्हारे लिए इतनी कीमती हो कि उसके पीछे तुम सब कुछ छोड़ सकते हो। जिसकी ऐसी हालत होती है वह थाली का बैंगन हो जाता है, जिधर को थोड़ा सा लालच दिखा उधर को बढ़ लिए, जिधर गए थोड़ा घाटा हुआ, थोड़ी तकलीफ, थोड़ी चुनौती मिली उधर से भग लिए। और ऐसे ही ज़िंदगी उसकी चलती रहती है।

उसके पास कुछ नहीं होता, जीने के लिए केंद्रीय आधार। उसके पास कुछ नहीं होता जो उसे लगातार ही याद बना रहता हो। फिर उसका मन बिलकुल सड़क के यातायात जैसा होता है, गाड़ियाँ आ रही हैं जा रही हैं, किसी भी गाड़ी का किसी दूसरी गाड़ी से कोई विशेष संबंध नहीं है। कभी यातायात ट्रैफिक बहुत बढ़ गया, कभी कम हो गया, रात के वक्त थोड़ा कम हो गया, सो लिए और सब जो गाड़ियाँ हैं वह एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी जा एक ही दिशा में रही हैं, आ भी एक ही दिशा से रही हैं।

ऐसा होता है आम व्यक्ति का मन, कि जैसे कोई यह न जानता हो कि उसको चाहिए क्या और किसी बाज़ार में पहुँच जाए और वहाँ जो कुछ भी है वही उसको कभी इधर खींचता है, कभी उधर खींचता है।

आंतरिक स्पष्टता ज़रूरी है। आंतरिक रूप से अगर तुम्हारे पास कुछ ऐसा नहीं है जो तुम्हारे ज़हन पर लगातार छाया रहता हो, जिसकी याद तुम कभी भूल ना पाते हो तो ज़िंदगी में बड़ी दुर्गति रहेगी क्योंकि मन में कुछ-न-कुछ तो चलते ही रहना है। फिर कुछ ही चलता रहेगा, कुछ भी चलता रहेगा।

कोई एक मूल सशक्त केंद्रीय भाव तो है नहीं, तो फिर क्या है मन में? टूटे-छितराए फुटकर विचार। और जिस वक्त जो विचार है ऐसा लग रहा है कि उस वक्त वही सबसे बड़ी चीज़ है। जैसे कोई बच्चा हो नासमझ उसको बैठा दिया गया है सिनेमा के पर्दे के सामने, और दृश्य आ रहे हैं एक के बाद एक। और बहुत परिवर्तनशील होते हैं उसमें दृश्य। सिनेमा में भी एक सेकंड में तुम्हारे सामने कुछ नहीं तो बीस दृश्य आ जाते हैं। तभी तो लगता है जो हो रहा है वह लगातार हो रहा है।

तो जो भी दृश्य आ रहे हों उस बच्चे के सामने, उसको वही दृश्य बिलकुल पकड़ ले रहे हैं। उसको लग रहा है यही तो असली चीज़ है। अभी सामने से घोड़ा दौड़ रहा है पर्दे पर, बच्चा उसी में बिलकुल खो गया, लिप्त हो गया, और खट से दृश्य बदल जाता है जैसे संसार में दृश्य बदलते हैं। एक नदी दिखाई देने लगती है, एक पहाड़ दिखाई देने लगता है, कहीं गोलियाँ चलने लगती हैं, कहीं कुछ नाचने-गाने का हँसने का कार्यक्रम होने लगता है, कहीं कोई बीमार हो जाता है, कहीं कोई बिछड़ जाता है, मर जाता है।

और सामने जो भी दृश्य आ रहा है बच्चा उसी में पूरे तरीके से घिर जा रहा है। उसके पास जैसे कोई आंतरिकता नहीं है कुछ, अपना नहीं है, कुछ ऐसा नहीं है जो पर्दे से आते दृश्यों से बिलकुल बड़ा हो, इतना बड़ा हो कि परदे से जो कुछ भी उसके पास आ रहा है उससे वह बड़ी चीज़ अस्पर्शित रहे। वह इतना बड़ा मुद्दा, इतना बड़ा मुद्दा कि सिनेमा पर जो भी चल रहा है वो मुद्दा एकदम छोटा, महत्वहीन पता चले।

तो जब वह इतनी बड़ी और महत्वपूर्ण चीज़ जो सदा याद रहे, जो सदा ज़हन पर छाई रहे, जो ज़िंदगी का एक सतत और केंद्रीय मुद्दा हो, वह नहीं है आपके पास तो फिर यही होगा — जब जो चीज़ सामने होगी वही चीज़ आपके लिए सब कुछ हो जाएगी। कुल मिला-जुला कर लेकिन ज़िंदगी का निष्कर्ष निकलेगा एक बर्बादी, व्यर्थता।

तो बाहर के लक्ष्यों में से किसको चुने यह मत पूछिए या बाद में पूछिएगा, पहले यह पूछिए कि भीतर जो कुछ चल रहा है उसमें से कितना, महत्वपूर्ण है मूल्य देने लायक है, और कितना है जो कचरा है।

शुरू में ही हमने कहा था कि बाहर आपको जो भी कुछ आकर्षित करता है, वह भीतर का ही प्रतिबिम्ब है। भीतर की सफाई कर ली तो बाहर की पचास चीज़ें आपको खींचना ही बंद कर देंगी।

और भीतर कैसे पता चले कि क्या महत्वपूर्ण है? उसके लिए विशेष कोशिश करनी पड़ती है क्योंकि आदमी और आदमी के मन की संरचना ऐसी है ही नहीं कि वह प्राकृतिक तौर पर योग्य हो या ज़रूरत अनुभव करे खुद को देखने की, भीतर जाने की, अंतर-गमन की।

आदमी में प्राकृतिक तौर पर वह योग्यता विकसित है ही नहीं तो इसीलिए बाहर की कोई चीज़ हो उसको हम आसानी से देख लेते हैं, उसके बारे में चर्चा कर लेते हैं, अनुसंधान भी कर लेते हैं, खोज-बीन कर लेते हैं लेकिन मन क्या चीज़ है, कहाँ से आती है कहाँ को जाती है, क्यों उसको कुछ कीमती लगता है, क्यों किसी चीज़ को वो भूल जाती है यह जानने-समझने की हमको कोई पैदाइशी, प्राकृतिक या सामाजिक शक्ति उपलब्ध नहीं है। इस मामले में इंसान बड़ा लाचार बेसहारा है।

उसका निर्माण कुछ इस तरह से हुआ है कि बाहर-बाहर जो चीज़ें दिखवानी हों दिखवा लो। बुद्धि खूब चलती है बाहर की तरफ। विज्ञान है, टेक्नोलॉजी है, बताओ बाहर का क्या पता करना है, मन लग जाएगा उधर को देखने में और उधर को देखने में कोई विशेष उपलब्धि नहीं हो गई क्योंकि प्रकृति ने आपको रचा ही ऐसा है कि आप बाहर देखे ही लोगे।

तो कोई बाहर देख रहा है, कोई दूसरा है जो बाहर उससे और दूर तक देख ले रहा है। इसमें यह दूसरा व्यक्ति पहले व्यक्ति से बेहतर तो है पर है उसी के तल का। जैसे कि एक सड़क हो, एक सड़क पर दो व्यक्ति खड़े हैं, एक आदमी उस सड़क पर देख ले रहा है आगे पाँच-सौ मीटर तक, दूसरा देख ले रहा है पाँच किलोमीटर तक। दूसरा पहले से बेहतर तो है लेकिन ले-दे कर देख तो वह भी उसी सड़क पर रहा है, थोड़ा और आगे तक। उसका रास्ता अलग नहीं हो गया, उसकी दृष्टि अलग नहीं हो गई।

अलग वह व्यक्ति है जो कुछ ऐसा कर ले जाए जिसके लिए हमें शारीरिक-प्राकृतिक तौर पर, जन्मगत तौर पर तैयार किया ही नहीं गया है। सोचने को आप ऐसे भी सोच सकते हैं कि आदमी के निर्माण में ही कुछ खोट है।

असली आदमी वह है जो अपनी शरीरगत और मानसिक दुर्बलताओं को चुनौती दे करके वह कर डाले जो उससे उसका शरीर कभी करवाना चाहता ही नहीं था। अब यह बात सुनने में ही अजीब लगती है न, यह कैसे हो जाएगा! भाई एक मशीन है वह, वो काम कैसे करना शुरू कर देगी जिस काम के लिए उसको रचा ही नहीं गया है? उसका डिज़ाइन, उसकी अभिकल्पना ही ऐसी नहीं है कि मशीन वह काम करे। वह कैसे वह काम शुरू कर देगी?

और नहीं कर सकती, कोई मशीन ऐसी नहीं है जो अपने उद्देश्य से अलग हटकर बल्कि अपने उद्देश्य के विपरीत, अपने उद्देश्य से ऊँचे किसी तल में कोई और काम करना शुरू कर दे। कोई मशीन ऐसा नहीं कर सकती। वह तो वही करती है जिस चीज़ के लिए उसका निर्माण हुआ है। पर आदमी चैतन्य जीव है न। अजीब सी उसकी चेतना है, आधा चैतन्य है आधा वह जड़ है, यांत्रिक है। और हम जब अभी बात कर रहे हैं तो इस बातचीत का पूरा उद्देश्य चेतना को राहत और शांति पहुँचाना है।

जिस हद तक हम मशीनें हैं उस हद तक यह बातचीत आपके किसी काम नहीं आ सकती। उदाहरण के लिए अगर आपके शरीर की कोई हड्डी छोटी है तो बिलकुल ऐसा नहीं होने वाला कि आप यह चर्चा सुनेंगे और उस हड्डी की लंबाई बढ़ जाएगी। लेकिन अपने शरीर की किसी छोटी हड्डी को लेकर के आपकी चेतना अगर परेशान रहती है तो ज़रूर इस बातचीत से कुछ लाभ हो सकता है।

तो यह सारी बातचीत आदमी के उस हिस्से के लिए की जा रही है जो मशीनें नहीं है, जो चैतन्य है। और उस हिस्से को संबोधित करके अभी कहा जा रहा है कि जब तक तुम मशीन के क्रियाकलापों को चुनौती नहीं दोगे, हिम्मत नहीं दिखाओगे, कुछ ताक़त नहीं बढ़ाओगे अपनी, तब तक तुम परेशान रहोगे ही।

यह बातचीत इसीलिए हो रही है न, किसी को राहत देने की ज़रूरत तब पड़ती है न, जब वह परेशान हो। यह सारी बातचीत अगर इसलिए है, सारा अध्यात्म अगर इसलिए है कि लोगों को शांति मिले, राहत मिले तो प्रकट बात है कि लोग परेशान हैं। परेशान इसीलिए है क्योंकि हमें जैसे रचा गया है तो हम पर ज़िम्मेदारी आ गई है कि हम वह कर डालें जो करने के लिए शायद हमें रचा ही नहीं गया है। मुश्किल लग रहा है न? पर करना पड़ेगा।

अध्यात्म इसीलिए ईश्वर की प्राप्ति वगैरह का काम नहीं है, अध्यात्म सीधे-सीधे एक कमज़ोर आदमी को ताकतवर बनाने का काम है। और हम कुछ ऐसे अजीब लोग हैं कि हमें यह लक्ष्य दे दिया जाए कि सात आसमानों पार जो ईश्वर बैठा है उसे हासिल करना है तो हम तैयार हो जाएँगे, कहेंगे, "बढ़िया है!" हमें ऐसा लक्ष्य दे दिया जाए कि तुम्हें अपने शरीर से ही बाहर छलांग मार कर के तीन लोकों का भ्रमण करना है तो हम कहेंगे, "बिलकुल हम ये काम करना चाहते हैं।"

लेकिन अगर हमसे कह दिया जाए कि, "तुम भीतर से कमज़ोर हो, बीमार हो, तुम्हें ताक़तवर बनना है।" तो हम कहेंगे, "नहीं यह काम नहीं करना है हमको!" यह काम मुश्किल तो है ही और चूँकि यह काम मुश्किल है इसीलिए इसमें अधिकांश लोगों को सहारा चाहिए, उसी सहारे का नाम है आध्यात्मिक ग्रंथ।

मैं इसलिए बार-बार कहता हूँ कि ज़िंदगी आप नहीं जी पाओगे सशक्त तौर पर अगर आप आध्यात्मिक ग्रंथों के पास नहीं हो। बहुत लोगों को बात समझ में नहीं आ रही है मेरी। वह कहते हैं — नहीं साहब क्या ज़रूरत है? हमें तो कोई खास तकलीफ नहीं है। जिन्हें कोई ख़ास तकलीफ नहीं है उनसे मैं कहता हूँ — मौज मारो, बाद में बात करेंगे। और एक फिर दूसरी कोटि के आते हैं वह कहते हैं — तकलीफ तो है लेकिन हम इलाज खुद ही कर लेंगे। या वह कहते हैं कि, "हाँ तकलीफ तो है पर हमें बहुत ज़्यादा भी इस बात पर भरोसा नहीं है कि तकलीफ दूर करने के लिए ग्रंथ पढ़ना ज़रूरी है।" उनको समझा रहा हूँ।

काम बहुत मुश्किल है, अकेले नहीं कर पाओगे इसलिए ग्रन्थ चाहिए भाई। इस मशीन को अपने खिलाफ जाना है, नहीं हो पाएगा। और कभी किसी ने कर लिया होगा तो करोड़ों-अरबों में एक होगा न। किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व का या किसी विशेष संत या ऋषि का नाम लेकर के तुम सिद्ध करोगे कि, "उन्होंने तो कर लिया था, वह तो अपने भीतर प्रवेश कर गए थे, अपने मन को समझ गए थे, अपने मन का कूड़ा कचरा साफ कर लिया था।"

"जो चीज़ आप कह रहे हैं कि जीवन में एक केंद्रीय मूल्य होना चाहिए, उन्होंने उस केंद्रीय मूल्य की पहचान कर ली थी और वो उसी में लगातार डूबे रहते थे, वही चीज़ उनके मानस पर हमेशा छाई रहती थी, तो उन्होंने तो कर लिया था बिना ग्रंथों के।" वो कोई करोड़ों-अरबों में एक होता है न।

आपको यह विनम्रता के साथ स्वीकार करना चाहिए कि करोड़ों-अरबों में आप शायद नहीं हैं। और फिर जो आदमी परेशान है उसको तो जो भी सहारा मिल रहा हो

उसे स्वीकार करना चाहिए, कम-से-कम आज़माना चाहिए। प्रयोग ही करके देख लो, मानो नहीं पर जाँच तो सकते हो।

इतनी तुम किताबें पढ़ते हो दुनिया भर की, उनकी भी किताबें पढ़ते हो जो कहते हैं कोई किताब नहीं पढ़नी चाहिए, तो कम-से-कम उन किताबों को भी पढ़ कर देख लो जिसमें वह बात कही गई है, वह माहौल रचा गया है जो इस मिट्टी की मशीन को मिट्टी से आगे देखने की दृष्टि देता है। वह जब करोगे तभी भीतर सफाई आएगी। और भीतर जब सफाई आ गई तो फिर बाहर कौन-सा लक्ष्य ठीक है, कौन-सा नहीं है ये बात अपने आप स्पष्ट हो जाएगी।

जितने भी लोग इस सवाल से जूझ रहे हैं कि, "ज़िंदगी में किधर को चलें? क्या लक्ष्य बनाएँ? क्या पाने लायक है क्या नहीं? तीन-चार तरह के विकल्प हैं, कौन-सा चुनें?" इस तरह के सवाल सब लोगों के पास होते हैं चाहे वो जवान हों, प्रौढ़ हों, वृद्ध हों, बल्कि बच्चों तक के पास अब ऐसे सवाल होते हैं कि, "निर्णय कैसे लें? डिसीजन मेकिंग !"

उन सभी से मैं कह रहा हूँ — बाहर तुम नहीं उलझे हुए हो। ये भ्रम मत पाल लेना कि तुम्हें बाहर क्या निर्णय लें ये बात नहीं समझ में आ रही, तुम भीतर उलझे हुए हो, तुम भीतर फँसे हुए हो। तुम्हें ये नहीं पता है कि भीतर कौन-सी चीज़ महत्वपूर्ण है। यह ललचाता है, ये लुभाता है, ये चीज़ आकर्षित करती है, वो चीज़ वादा करती है, इसमें से क्या है जो असली है, तुम्हें ये नहीं पता भीतरी तौर पर।

और भीतरी तौर पर वो पता करने के लिए तुम्हें उनकी संगति करनी ही पड़ेगी जिन्होंने अपना पूरा जीवन यही जानने में निकाल दिया। जिन्होंने खुद भी जाना, जिन्होंने दूसरे जानकारों से, ज्ञानियों से भी जाना-सुना, सीखा और जिन्होंने फिर आपके लिए पीछे अपने शब्दों की विरासत छोड़ दी। उनकी संगत करनी पड़ेगी। उनकी संगति किए बिना अगर तुम सोच रहे हो कि भ्रमजाल से खुद ही तुम निपट लोगे, बाहर आ जाओगे तो मुझे यही कहना होगा कि इसकी संभावना लगभग शून्य है, नहीं हो पाएगा।

मन पर काबू कैसे पाएँ?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी प्रणाम, मेरा प्रश्न यह है कि मन को काबू में कैसे रखा जा सकता है? जो व्यावहारिक लोग हैं, या जो समाज में रहते हैं, उसमें रहते हुए कोई ऐसी सरल विधि हो जिसका उपयोग करके मन को काबू में कर सकें, और फिर अंततः जो भगवान ने राह दिखाई है, उसके ऊपर चल सकें।

आचार्य प्रशांत: 'मन को काबू में कैसे रखें?' किसके काबू में?

कौन है जो मन को काबू में रखना चाहता है? ये धुरंधर कौन है? कहिए? ये 'मैं' कौन है जो मन को काबू में रखेगा?

अब समझो ग़ौर से। जिसे तुम काबू में रखना चाहते हो, वो तुम्हारी छाया है। तुम जैसे हो, वो वैसी है; तुम उसे काबू में कैसे कर लोगे? लेकिन मज़ेदार चीज़ है, ना सिर्फ़ हम ये सवाल करते हैं कि मन को काबू में कैसे रखें, बाज़ार में इस सवाल के सैकड़ों जवाब भी बिक रहे हैं। और खूब खरीददार हैं – ऐसे काबू में करें, वैसे काबू में करें। ये वैसा ही सवाल है कि जैसे कोई पूछे कि 'आइने में अपनी प्रतिछवि को कैसे बदल दें?' अपनी शक्ल को बदलो तो आइने में जो दिख रहा है वो भी बदल जाएगा।

मन 'मैं' का मौसम है। मन 'मैं' के इर्द-गिर्द की गतिविधि है। 'मैं' जैसा होगा, उसके इर्द-गिर्द की गतिविधि भी वैसी ही होगी, उसका नाम मन है। मन निर्धारित ही इस बात से होता है कि तुमने अपनेआप को क्या समझ रखा है, क्या बना रखा है; 'मैं' ने किससे आसक्ति जोड़ रखी है?

तुम अगर अपनेआप को ग़लत समझते हो तो मन ठीक कैसे हो जाएगा? तुम अगर जाकर खड़े ही कीचड़ में हो गए हो तो आसपास खुशबू का माहौल कैसे रहेगा? कोई कीचड़ के बीच खड़ा हो करके पूछे कि 'ये सब बदबू कैसे बदली जाए, कैसे हटाई जाए, कैसे काबू में कैसे की जाए?' तो मैं कहूँगा, बदबू को छोड़ो, जहाँ खड़े हो वहाँ से हटो। तुम जहाँ खड़े हो बदबू वहाँ की अनिवार्यता है। लेकिन ज़िद तुम्हारी पक्की है। तुम कहते हो, 'हम वहीं खड़े रहेंगे जहाँ हम हैं। बदबू नहीं आनी चाहिए।' ये नहीं हो सकता!

तुमने अपनेआप को जो बना लिया है उस कर्म का फल है मन का उपद्रव। तुम बदल जाओ, मन बदल जाएगा। मन माने क्या? मन से तुम्हारा आशय होता है चेतना। मन से तुम्हारा आशय होता है भीतर से जो भावनाएँ उठती हैं, विचार उठते हैं, प्रतिक्रियाएँ उठती हैं – इन्हीं सब को तुम मन कहते हो। तुम ये देख ही नहीं रहे कि ये सारे विचार

किसको उठते हैं? ये सारी भावनाएँ, ये प्रतिक्रियाएँ किसको उठती हैं? तुम्हें उठती हैं। इनके केंद्र में तुम हो।

समझो! तुमने अगर अपनी परिभाषा ही यही रखी है कि 'मैं वो हूँ जो कमज़ोर है, जिसको सहारे की, सुरक्षा की ज़रूरत है', तो मन का माहौल हमेशा किसका रहेगा? मन का माहौल भय का रहेगा, डरा-डरा रहेगा। अब तुम कहो कि 'मुझे डर को काबू करना है' – जैसे तुमने पूछा न, 'मन को काबू में कैसे करें?' – अब मन में डर घूम रहा है और तुम कह रहे हो कि 'मुझे डर को काबू करना है। डर को तो मुझे काबू करना है, लेकिन मेरी पहचान यही है कि मैं वो हूँ जो कमज़ोर है।' अब अगर तुम कमज़ोर ही हो, तो डर को काबू में कैसे कर लोगे भाई? तुम अपनेआप को कुछ बना करके जीवन में घूमते हो, रमण करते हो। जो तुमने अपनेआप को बना रखा है उसको समझो ग़ौर से, देखो कि क्या बना रखा है? और जो कुछ भी तुमने अपनेआप को बना रखा है, वो तुम्हारे लिए परेशानी का ही कारण बनेगा।

अध्यात्म है तुम्हें समझाने के लिए कि या तो अपनेआप को पूरा कर दो, या अपनेआप को ख़त्म ही कर दो। इन्हीं दोनों स्थितियों में तुम्हें पहचानों से मुक्ति मिलेगी, इन्हीं दोनों स्थितियों में तुम्हें झूठे उपद्रवों से मुक्ति मिलेगी। क्यों अपनेआप को आधा-अधूरा समझते हो? और जो भी कुछ तुम समझते हो अपनेआप को, वो आधा अधूरा ही है, आंशिक ही है, इधर से उधर से मिला है, पकड़ लिया है। काम तो आसान होना चाहिए कि अपनेआप को अब पूरा मानना है। पहले अधूरा मानते थे, अब अपनेआप को पूरा माना करेंगे। आसान नहीं है। आसान इसलिए नहीं है क्योंकि अधूरा मानने में 'मैं' बचा रहता है। अपनेआप को पूरा मानने में 'मैं' मिटता है। अधूरा मानने में बड़ा स्वार्थ जुड़ा हुआ है। स्वार्थ तो जुड़ा हुआ है पर अधूरा मानने के साथ तकलीफ़ भी बहुत जुड़ी हुई है। जब तकलीफ़ उठती है तो फिर ऐसे सवाल करते हो कि 'मन को काबू में कैसे लाएँ?'

अधूरे 'मैं' को कहते हैं अहम्, पूरे 'मैं' को कहते हैं आत्मा।

जब तक कहते रहोगे कि 'मैं कौन हूँ? मैं ये हूँ, मैं ये हूँ, मैं ये हूँ, मैं ये हूँ, मैं ये हूँ' (अलग-अलग वस्तुओं की ओर इशारा करते हुए) तो मन तुम्हारी इसी परिभाषा के अनुसार निर्धारित होता रहेगा। फिर शिकायतें मत करना!

"बोए पेड़ बबूल, आम कहाँ से खाए"

इस बोध के साथ जिओ कि भीतर-भीतर हम बिलकुल पूरे हैं, हमें कोई ज़रूरत नहीं; ज़रूरतें जितनी हैं, सब बाहरी हैं। ज़रूरतें पूरी हो जाएँ, तो भी कोई बाहरी चीज़ पूरी हुई; ज़रूरतें पूरी नहीं भी हुईं, तो भी कोई बाहरी चीज़ अधूरी रही। भीतर-भीतर हम लगातार पूरे हैं। जब पूर्णता में जिओगे तो मन एक सीमा से ज़्यादा ख़राब नहीं

होगा। मन ख़राब भी होगा तो बाहर-बाहर ख़राब होगा, क्योंकि फिर अच्छाई, बुराई, ख़ूबी, ख़राबी सब बाहर-बाहर रहती है। तो फिर मन ख़राब भी होगा तो बाहर-बाहर होगा।

कोई तुम्हें देखकर कहेगा कि आज तुम्हारा मन, मूड कुछ अच्छा नहीं लग रहा। तुम कहोगे, 'हाँ, ख़राब है, थोड़ा बाहर-बाहर ख़राब है, अंदर से तो मस्त है।' जैसे कोई फल हो रसीला, जिसके छिलके पर धूल पड़ गई हो, उस धूल का उसके रस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा। भीतर-भीतर वो फल मस्त है। हाँ, आँधी चली थी, धूल पड़ गई है। आज आँधी चली थी, धूल पड़ गई है। आज थोड़ा-सा छिलका गंदा है, हम तो लेकिन रसीले ही हैं, हम पर कोई असर नहीं पड़ रहा – ऐसे जिओ। फिर नहीं कहोगे कि मन को काबू में करना है।

चेतना के चार तल

प्रश्नकर्ता: जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय ये चार अवस्थाएँ क्या हैं?

आचार्य प्रशांत: इसका जो शास्त्रीय तरीका है बताने का, शुरुआत वहाँ से करेंगें।

दस तो मानी गईं हैं इंद्रियाँ; पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेंद्रियाँ। और उसके अलावा होता है अन्तःकरण। अन्तःकरण क्या? अन्तःकरण चतुष्टय, जिसमें चार आते हैं। कौन-से चार? जो अंदर के हैं। इंद्रियाँ वो जो सीधे-सीधे बाह्य जगत से संपर्क रखती हैं, और अन्तःकरण चतुष्टय में वो आते हैं चार, जो अंदर-अंदर बैठे हैं, जो सीधा संबंध नहीं रखते बाहरी जगत से। वो चार क्या हैं? मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार।

तो इनको आधार बना करके चेतना की इन तीन अवस्थाओं की विवेचना की जाती है।

जाग्रत् अवस्था वो है चेतना की जिसमें ये चौदहों सक्रिय हैं; जहाँ ये चौदहों सक्रिय हैं वो अवस्था मानी गई जागृति की। चौदहों सक्रिय माने; आँखें कुछ भीतर ला रही हैं, जो भीतर आ रहा है वो स्मृति के द्वारा एक नाम पा रहा है, चित्त उसको पुराने अनुभवों से जोड़कर देख रहा है, अहंकार उसके साथ संबंध बना रहा है, और मन उसका उपयोग करके विचार और कल्पनाएँ कर रहा है; चौदहों सक्रिय हैं जाग्रत् अवस्था में।

कुछ आया तुम्हारे भीतर तुम्हारी त्वचा के स्पर्श से, तुम्हारे कानों में पड़े शब्द से; रंग, रूप, रस, गंध, शब्द, इंद्रियों के ये सब जो विषय होते हैं, तो ये सब विषय इंद्रियों के द्वारा भीतर प्रवेश कर रहे हैं। और भीतर जो यंत्र काम कर रहा है वो इस भीतर आई जानकारी पर, इस भीतर आए डेटा (आँकड़े) पर कुछ कार्यवाही करके किसी तरीके का कोई उत्पाद तैयार कर रहा है, जिसके द्वारा फिर जीव कुछ अनुभव करता है और कर्म करता है। ये जाग्रत् अवस्था हुई।

ये जो जीव है इसका अहंकार अगर अनुभवों से बहुत लिप्त है और अनुभवों के फल का बड़ा लोभी है, तो फिर ये जो अहंकार है ये इस बात की भी प्रतीक्षा भी नहीं करता कि “बाहर से कुछ माल-सामग्री आए तो मैं उसके साथ संबंध बनाऊँ, तो मैं उस पर कुछ प्रक्रिया करूँ।“ वो अहंकार फिर कहता है, “बाहर से सामग्री नहीं भी आ रही, हम तो भी कल्पना का इस्तेमाल करके कुछ-न-कुछ माल तैयार कर लेंगें।“ इस अवस्था को कहते हैं स्वप्नावस्था।

जागृति में तो अनुभव लेने के लिए आवयश्क है कि तुम्हारे सामने कोई खड़ा हो। मान लो तुम पैसे के पुजारी हो, तो जागृति में पैसे से संबंधित अनुभव तुम्हें कब होगा? जब आँखें कम-से-कम पैसे को देखें, हाथ पैसे को छुएँ, कानों में पैसों से संबंधित कुछ बातचीत पड़े। जागृति में अनुभव लेने के लिए इंद्रियों का सक्रिय सहयोग आवश्यक है, इंद्रियों की सक्रियता आवश्यक है, है न? स्वप्न में? स्वप्न में तो तुम्हें इंद्रियों की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। तुम्हारा अहंकार इतना लिप्त हो चुका है भोग से, कि वो कहता है कि, “आँखों से मुझे धन दिखाई पड़ रहा हो चाहे न दिखाई पड़ रहा हो, मैं तो साहब कल्पना कर लूँगा, और कल्पना कर-करके ही अनुभव के मज़े लूट लूँगा।“ जो कि आपके साथ नींद में होता है।

नींद में आपको दिखाई तो कुछ नहीं पड़ रहा, लेकिन आप प्रतीक्षा भी नहीं करते कि दिखाई पड़े तो भोगूँ, आप कहते हैं, “नहीं भी दिखाई पड़ रहा मैं तब भी भोग लूँगा, मैं तो बड़ा चालाक हूँ, मैं तो स्मृति का सहारा लूँगा।“ चित्त क्या होता है? स्मृति का घर। “मैं तो स्मृति का सहारा लूँगा, और मैं मन का सहारा लूँगा।“ मन क्या होता है? कल्पना का घर। स्मृति के आधार पर कल्पना की जा सकती है।

आपको किसी चीज़ का पूर्व अनुभव हो, वो क्या बन जाता है? स्मृति। और उस पूर्व अनुभव को ही आप नया रूप, रंग, कलेवर, आकार देकर के क्या बना लेते हैं? कल्पना। ये स्वप्नावस्था है, जिसमें आप चित्त में संगृहीत सामग्री का इस्तेमाल करके अपने आप को सुख देने वाली या किसी तरह के अनुभव देने वाली कल्पनाओं का निर्माण कर लेते हैं, उन कल्पनाओं को ही कहा जाता है स्वप्न।

तो आप जो स्वप्न ले रहे हैं वो वास्तव में आपकी अनुभव-लोलुपता के प्रदर्शक हैं। हम अनुभव के ऐसे भूखे हैं कि दिन के जगते हुए सोलह घंटों में हमें जो अनुभव हुए वो हमें पूरे नहीं पड़े, हम कहते हैं, “अभी और अनुभव चाहिए।“ वो अनुभव कुछ भी हो सकते हैं, ज़रूरी नहीं है कि वो सीधे-सीधे, प्रत्यक्ष तौर पर सुख के ही अनुभव हों; लोग सपनों में डरते भी हैं। लोगों को सपनों में ये भी दिखाई दे जाता है कि उनकी मौत हो गई, या कोई नुकसान हो गया, या वो किसी ऊपर इमारत से गिर पड़े हैं नीचे। लेकिन आपको भले ही सपनों में डर का अनुभव हो रहा हो, अनुभव तो हो रहा है न? तो सपने लेना यही दिखाता है कि आपमें अनुभव-लोलुपता बहुत है। आपके भीतर जो अनुभोक्ता बैठा हुआ है- अहं, वो मानकर ही नहीं दे रहा; वो कह रहा है, “अभी और चाहिए, मुझे अनुभव कराओ, एक्सपीरिएंस (अनुभव) कराओ।“

देखा है न, लोग पागल रहते हैं? कोई पूछता है कि जीवन किसलिए है तो कहते हैं, “जीवन अनुभव लेने के लिए है। अभी मुझे पाँच-सात और तरीके के अनुभव लेने हैं।“

अब मानलो ये जो तुम्हें अनुभव लेने हैं, जाग्रत् अवस्था में इनको पाने की कीमत चुकाने का तुम में सामर्थ्य ही ना हो तो तुम क्या करोगे?

भई, आप अनुभव लेना चाहते हो कि आपने जाकर के चाँद पर छलाँग लगा दी है; आप एस्ट्रोनौट (अंतरिक्ष-यात्री) हो, आप रॉकेट में बैठकर गए हो और आप चाँद पर कूद रहे हो। आपकी बड़ी इच्छा है कि आप ये अनुभव लो, पर न आपकी रॉकेट पर बैठने की योग्यता है, न चाँद पर छलाँग लगाने की पात्रता है; तो वो मौका तो आपको ज़िंदगी में मिलने से रहा। तो फिर आप एक चतुर तरीका क्या निकालोगे? सपना ले लोगे, कहोगे, “अनुभव ही तो लेना था, लंबा-चौड़ा पैसा खर्च करके और मेहनत करके कौन अनुभव ले? आँख बंद करो, सो जाओ और, 'आलालाला', चाँद पर पहुँच गए लाला।“ तो सपने एक तरह की चतुराई हैं; उसको चतुराई भी कह सकते हो, और विवशता भी कह सकते हो, और नादानी और अज्ञान भी कह सकते हो। जो कहना चाहो।

अब आते हैं तीसरी अवस्था पर, जिसको क्या बोलते हैं? सुषुप्ति। सुषुप्ति भी अवस्था तो निद्रा की ही है पर इस अवस्था में कुछ और होता है, इसमें तुम्हें सपने भी नहीं आ रहे होते। और कहा गया है कि सुषुप्ति का जो आनंद होता है वो तो सपनों से भी आगे का होता है। जाग्रत् में आप सुख ढूँढ रहे होते हो संसार में, स्वप्न में आप सुख का निर्माण कर रहे होते हो कल्पनाओं से, और सुषुप्ति में सुख का निर्माण भी नहीं करना पड़ता; आप बिना किसी विषय का उपयोग करे ही सुख भोग रहे होते हो।

तो सुषुप्ति क्या है? सुषुप्ति वो अवस्था है जिसमें आनंद अहं को ‘अपने होने' से ही आ जाता है; अहं को अब किसी विषय की ज़रूरत नहीं है, वो अपना ही आनंद ले रहा है, उसे कोई कल्पना भी नहीं करनी है, वो अपनी ही बेहोशी में डूब गया है, अब वो विषयों से रिक्त हो गया है। एक तरीके से ये समाधि के पास की अवस्था है, और दूसरी दृष्टि से देखो तो ये गहरा और मूल अंधकार और अज्ञान है; ये दोनों ही बातें सुषुप्ति पर लागू होती हैं।

जब व्यक्ति के, मनुष्य के अस्तित्व को कोशों के द्वारा निरूपित किया जाता है तो उन कोशों के बिलकुल केंद्र पर जो बैठी होती है उसे कहते हैं आत्मा, और उस आत्मा के जो निकटतम है उसको कहते हैं आनंदमय-कोश, उसी आनंदमय-कोश का संबंध सुषुप्ति से है। तो एक तरफ़ तो ये जो सुषुप्ति है ये आत्मा के निकटतम है, दूसरी ओर, ये जो सुषुप्ति है वो सबसे बड़ा झूठ भी है और सबसे बड़ा नशा भी है; क्योंकि आपको आनंद की प्राप्ति हो गई है बिना मुक्ति के ही, बिना साधना के ही। ये आनंद तो है पर झूठा आनंद है, और झूठा इसलिए है क्योंकि इसमें नित्यता नहीं है, ये टूटेगा। ये आपको थोड़ी देर के लिए सब दुखों से तो मुक्त कर देता है; पर अभी कोई आएगा, आप सो रहे हो, गाल पर चपत लगाएगा,

या हो सकता है बस ज़ोर से आपका नाम लेकर आपको आवाज़ देदे; और ये आनंद छूमंतर हो जाना है।

तो आनंद मिला तो, पर बड़ा अनित्य था, बड़ा झूठा था। कुछ इस आनंद ने बताया तो, कुछ इशारा तो किया, पर चला नहीं, टिका नहीं। और जो अनंत न हो उसको सच्चा कैसे मानें? जो आया ही इसलिए हो कि छोड़कर चला जाए, उसका भरोसा क्या करें? दूसरी ओर, वो छोडकर भले चला गया पर थोड़ी देर के लिए ही सही, स्वाद तो दे गया; ये तो बता गया कि रोज़-मर्रा के, जागृति के और स्वप्न के, सुख-दु:ख और तनाव के आगे गहरी राहत की भी कोई अवस्था की संभावना है।

तो सुषुप्ति में आपको जो गहरे आनंद का अनुभव होता है; और अनुभव तो होता ही है, गहरी नींद लेकर के आप उठते हो तो कहते नहीं हो, "बड़ी गहरी नींद आई, आहाहा, बड़ा ताज़ा अनुभव हो रहा है," कहते हो कि नहीं? तो सुषुप्ति में आपको जो गहरे आनंद का अनुभव होता है वो आपके लिए अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी हो सकता है। अच्छा ऐसे है कि उसने आपको बता दिया कि तनाव ज़रूरी नहीं है, उसने आपको तरो-ताज़ा कर दिया है। वो आपको बता गया है कि आप जैसे दिन भर जीते हो वो फ़िज़ूल है, व्यर्थ है, और, संभव है एक सहज, तनावमुक्त जीवन जीना।

अगर आप इस इशारे का सदुपयोग करलें तो सुषुप्ति बड़े सौभाग्य की चीज़ है, आपको सहारा देने आई है, इशारा देने आई है। और अगर आप सुषुप्ति का उपयोग सिर्फ़ इसलिए कर रहे हैं कि आपको एक तात्कालिक राहत मिल जाए, दो-तीन घंटे आपको गहरी नींद मिल जाए; आठ घंटे सोए, उसमें से सुषुप्ति के बस दो ही तीन घंटे होते हैं; वो दो-तीन घंटे में आपको गहरी नींद मिल जाए ताकि आप पुनः ताज़े होकर के अपने पुराने ही ढर्रों में लौट जाएँ, तो सुषुप्ति फिर आपके लिए बड़े दुर्भाग्य की बात है। क्योंकि सुषुप्ति आपको तरो-ताज़ा तो कर रही है, पर सिर्फ़ इसलिए ताकि आप अपने पुराने बंधनों में बने रह जाएँ।

तो सुषुप्ति चेतना की एक बड़ी विशिष्ट अवस्था है।

फिर, सुषुप्ति के आगे जो होता है उसे चेतना की अवस्था नहीं मानते, वो चेतना का आधार कहलाता है; उसे आत्मा कहते हैं। और वो चूँकि इन तीनों अवस्थाओं से आगे होता है तो इसीलिए उसे तुरीय भी कहते हैं। चूँकि वो चेतना की कोई अवस्था ही नहीं होती, बल्कि अवस्थाओं के प्रति निरपेक्षता होती है, अवस्थाओं के प्रति एक तरह की अरुचि होती है; तो उसको कहते हैं - साक्षी।

तुरीय ही आत्मा है, तुरीय ही साक्षी है।

दि फ़ोर्थ , चौथा - तुरीय। तीन से आगे चौथा; चौथा भी इसलिए कहना पड़ रहा है कि तीन से आगे है, नहीं तो बस ये कहना काफ़ी होता कि “तीन से आगे है।“ असल में जब चौथा बोल दिया तो ऐसा लगता है कि जैसे तीन अवस्थाएँ हैं तो ऐसी ही कोई चौथी अवस्था भी होती होगी। ये बात समझ में आ रही है? तुरीय चेतना की कोई अवस्था होती ही नहीं है, तुरीय विशुद्ध चेतना मात्र है।

तो इससे ये भी सपष्ट हो गया होगा कि ये जो चेतना की तीन अवस्थाएँ हैं जिनकी हमने बात करी, ये वास्तव में तीन अशुद्ध अवस्थाएँ हैं। ये चेतना की तीन अशुद्धताओं के नाम हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। ये चेतना में तीन तरह के विकारों और विकृतियों के नाम हैं- जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति।

> जब चेतना बिलकुल स्वच्छ और शुद्ध हो जाती है, विशुद्ध-चेतन, चैतन्य मात्र हो जाती है, तो वो तुरीय कहलाती है।

अब उसमें कोई अवस्था नहीं है, अब वो अवस्थातीत हो गया। इसी को ऐसे भी कह सकते हो कि तुरीय चेतनातीत है; एक तरफ़ तो ये भी कह रहे हो कि विशुद्ध चेतना है, और दूसरी दृष्टि से ये भी कह सकते हो कि चेतना से आगे है। जब कहते हो कि चेतना से आगे है, तो वास्तव में तुम कह रहे हो, “चेतना की अशुद्धियों से आगे है, शुद्ध है।“

स्पष्ट है, चेतना की तीनों अवस्थाएँ और तुरीय?

प्र: अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनंदमय कोशों का परिचय क्या है? ये कोश किसके हैं?

आचार्य: ये सब कोश जीव के हैं; शुरुआत हमेशा यहाँ से करो, ये अध्यात्म का सूत्र है। उपनिषदों को पढ़ना भी अपने आप में एक कला है, लगातार पूछते रहना पड़ता है कि ये जो बात कही जा रही है किससे कही जा रही है, किसके लिए कही जा रही है। जिनको आध्यात्मिक ग्रंथों को पढ़ना नहीं आता, या जिनको आध्यात्मिक वार्ता को सुनना नहीं आता, वो पढ़ने और सुनने से पहले तो पढ़ने, सुनने की कला विकसित करें। एक खास तरीका होता है इन ग्रंथों को पढ़ने का, या इन वार्ताओं को सुनने का; जिनको वो तरीका नहीं आता वो अर्थ का अनर्थ कर लेते हैं, उन्हें लाभ नहीं होता, उन्हें क्रोध-वग़ैरह ज़्यादा आ जाता है। उन्हें लगता है, “ये क्या बात हो रही है ऐसी-वैसी।“

तो ये जो जीव है, इसमें जो चीज़ सबसे बाहर है उसको कहते हैं अन्नमय-कोश। अन्नमय-कोश माने वो सब कुछ जो बाहर से लेकर के बना है; बाहर से अन्न लेकर के, जल लेकर के, हवा लेकर के, धूप लेकर के जिसका निर्माण हुआ है उसको कहते हैं अन्नमय-कोश। तो शरीर का रेशा-रेशा कहलाता है अन्नमय-कोश। इस अन्नमय-कोश में;

अगर हम अस्तित्व की ही बात कर रहे हैं, तो अन्नमय-कोश से भी बाहर का एक कोश तुम और जोड़ सकते हो। अगर पाँच कोश हैं तो एक छठा कोश भी जोड़ा जा सकता है, छठा कोश बताओ क्या होगा?

भीतर से बाहर की ओर आते- आते जो तुम्हें सबसे बाहरी कोश मिला वो है अन्नमय-कोश, ये(हथेली की ओर इशारा करते हुए)। इससे भी बाहर एक कोश और तुम कह सकते हो कि होता है, हालांकि शास्त्रीय तौर पर उसका कोई उल्लेख नहीं है लेकिन फिर भी कह सकते हो, क्या? संसार। तो सबसे बाहरी कोश तो संसार है; मैं उसको इसलिए जोड़ना चाहता हूँ क्योंकि संसार भी है तो हमारे ही अस्तित्व का हिस्सा न?

विशुद्ध-अद्वैत का अर्थ क्या होता है? "जो कुछ भी है मेरा ही प्रक्षेपण है, और मेरा प्रक्षेपण है झूठा ही।" तो दो हैं, मात्र दो, मैं और संसार, मैं माने आत्मा। मात्र दो हैं, आत्मा और संसार; और इन दो में भी एक प्रक्षेपण मात्र है, मिथ्या है, तो ले-देकर के बचा कौन? एक आत्मा। और आत्मा एक भी नहीं है, क्योंकि एक अकेला हो नहीं सकता, तो उसको एक कहना भी ठीक नहीं है, तो बस 'अद्वैत' बोल दो। ठीक है?

तो इसीलिए हम ये कहें कि आत्मा है और फिर आत्मा के अलावा पाँच कोश हैं और फिर संसार है, तो हमने तीन बना दिए न? नहीं समझे? हमने कह दिया, "आत्मा है, फिर पाँच कोश हैं, और फिर बाहर संसार है," तो ये तो हमने तीन बना दिए न? तीन न बनाओ, दो ही रहने दो - आत्मा, और पाँच कोश। और छठा कोश संसार को मान लो, क्योंकि संसार भी हमारा ही विस्तार है।

तो संसार से दाना-पानी लेकर के हमने जिस कोश का निर्माण करा, उसको क्या कहते हैं? अन्नमय-कोश। ये(हथेली की ओर इशारा करते हुए), ये है अन्नमय-कोश। अन्नमय-कोश में जो कुछ है वो या तो ठोस है, या तरल है।

उसके अलावा जो अगला कोश है उसे कहते हैं प्राणमय-कोश, जिसमें तमाम तरह की वायु हैं। चौदह तरह की वायु मानी गई हैं, बहुत सारी वायु है, उन्हीं वायुओं को कहते हैं - प्राण। तो ऐसे कहा जाता था कि प्राण नहीं हैं तो श्वास का चलना बंद हो जाता है न? और शरीर में जितनी भी गतियाँ होती हैं वो सब बंद हो जाती हैं न? वो सब जितनी गतियाँ होती हैं शरीर में, उनकी प्रतिनिधि है वायु, क्योंकि वायु गति करती है। गति तो तरल पदार्थ भी करते हैं, लेकिन जीवन का प्रतिनिधि माना गया वायु को, इसीलिए जो वायु का कोश है उसे नाम दिया गया प्राणमय-कोश। आखिरी बात ये कि जब ये वायु (साँस का इशारा करते हुए) चलनी बंद हो जाती है, तो प्राण नहीं हैं; तो उसको नाम दिया गया प्राणमय-कोश। ठीक है?

उसके बाद कौन-सा कोश आता है? मनोमय-कोश। मनोमय-कोश क्या है?

जहाँ पर; अभी हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे हैं, भीतर, अंदर की ओर। मनोमय-कोश आपके अस्तित्व का वो तल है जहाँ अव्यवस्थित मानसिक गतिविधि चलती ही रहती है, लगातार। मन है, और मन वृतियों द्वारा संचालित है, मन उच्छृंखल है। मन पूरे तरीके से मात्र प्राकृतिक गति कर रहा है, उसको प्रकृति के आगे जाने की कोई अभीप्सा नहीं है; ये कोश कहलाता है मनोमय-कोश।

मनोमय-कोश पशुओं में भी सक्रिय होता है। मनोमय-कोश को सक्रिय करने के लिए ठीक वैसे आपको कोई साधना नहीं करनी पड़ती, जैसे कि अन्नमय-कोश और प्राणमय-कोश को सक्रिय करने के लिए आपको कोई साधना नहीं करनी है। मनोमय-कोश स्वयं ही सक्रिय रहता है, एक छोटे बच्चे में भी सक्रिय रहता है।

उसके बाद आपके अस्तित्व का वो तल आता है जिसपर बहुत कम लोग पहुँचते हैं, वो है विज्ञानमय-कोश। विज्ञानमय-कोश विचारणा का वो विरल तल है जिसमें विचार पहली बात तो व्यवस्थित हो जाता है, और दूसरी बात, अपनी ओर मुड़ जाता है। विचार व्यवस्थित हो गया है, विचार जैसे किसी ज़बरदस्त ताकत के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया है, अब विचार की पूरी शक्ति एकाग्र होकर के कुछ पाना चाहती है; विचार की इस अवस्था को कहते हैं विज्ञान।

मनोमय-कोश और विज्ञानमय-कोश में अंतर समझना। बिखरा हुआ विचार, वृतियों द्वारा शासित विचार- ये आएगा मनोमय-कोश में। और एकाग्र विचार, अनुशासित विचार, व्यवस्थित विचार, योजनाबद्ध विचार- ये आएगा विज्ञानमय-कोश में। और अगर विज्ञानमय-कोश में जो साधना कर रहा है विचार, जो आत्म-जिज्ञासा कर रहा है विचार, तो विचार फिर कटने लगता है, विचार अपनी ही आँच में पिघलने लगता है, और रह जाता है एक निर्विचार आनंद; उसको कहते हैं आनंदमय-कोश। आनंद है, पर उस आनंद का कारण कोई विचार या विषय नहीं है, एक विषयहीन आनंद है; ये आनंदमय-कोश है, इसमें अहं विषयहीन हो गया है।

आनंदमय-कोश बहुत तात्कालिक होता है, अहं आनंदमय-कोश में बहुत समय तक नहीं रह सकता; या तो वो किसी निचले तल पर गिर जाएगा या उठकर के आत्मा में समाहित हो जाएगा, जबकि बाकी सब कोशों से अहं लंबे समय तक सुविधापूर्वक संबंधित रह सकता है। उदाहरण के लिए- जो लोग देह से तादात्म्य रखते हैं, देह भाव में जीते हैं, वो बड़े मज़े से जीवन-भर अन्नमय-कोश में रह सकते हैं। ये सब आपकी हस्ती के तल हैं न? और जो अहं है वो किसी भी तल पर निवास कर सकता है।

अब पशुओं को ले लो, उनका पूरा जीवन ही कहाँ बीत रहा है? अन्नमय-कोश में बीत रहा है। उनको किसी भी हाल में तीसरे कोश से ऊपर की यात्रा तो करनी ही नहीं है;

अन्नमय में हैं, प्राणमय में हैं, कभी मनोमय-कोश में, और ऊपर की यात्रा उन्हें करनी नहीं है। ऐसे ही बहुत-सारे मनुष्य भी होते हैं, जिनका अधिकांश जीवन बीत रहा है अन्नमय-कोश में या मनोमय-कोश में। जो बुद्धिजीवी हो गए, उनका जीवन कहाँ बीतने लग जाता है? विज्ञानमय-कोश में। और जो आध्यात्मिक साधक हो गए, उन्हें किसका स्वाद मिलने लग जाता है? आनंदमय-कोश का।

लेकिन आनंदमय-कोश का स्वाद आप लगातार नहीं ले सकते, चिर-काल तक नहीं ले सकते। आनंदमय-कोश का स्वाद, उदाहरण के लिए, आपको दिलवा देंगी ज्ञान की विधियाँ, या भक्ति में भजन या कीर्तन। आप आधे-घंटे के लिए कहाँ स्थापित हो गए? आनंदमय-कोश में; आप एक अकारण-आनंद में विश्राम करने लग गए। आपको पता भी नहीं है कि इतना चैन, इतनी अनूठी शांति क्यों मिल रही है, आप सब भूल गए, बिलकुल खो गए, विचार ही लुप्त हो गया। लेकिन भजन क्या चौबीस-घंटे चलेगा? ध्यान की कोई भी विधि होगी, थोड़ी देर में समाप्त हो जाएगी न?

यही वजह है कि मैं बार-बार कहा करता हूँ कि ध्यान कि विधियाँ भी आत्मा के खिलाफ़ आखिरकार एक अवरोध बन जाती हैं; आप थोड़ी देर के लिए आनंदमय तक पहुँचते हो, वहाँ पर रस पीते हो आनंद का, और उसी रस से, उतने से ही तृप्त होकर के फिर आप वापस नीचे कहीं गिर जाते हो; मनोमय-कोश में आ गए, कहीं और आ गए।

बिरले होते हैं वो, जो आनंदमय-कोश को साधन-मात्र, मार्ग-मात्र समझते हैं आत्मा तक प्रवेश का।

> जो आनंदमय-कोश का भी अतिक्रमण कर गया, वो आत्मा में प्रवेश कर जाता है; आनंदमय-कोश आखिरी अवरोध है। आनंदमय-कोश अपने-आप में एक भारी प्रलोभन है।

आनंदमय-कोश आपको क्या लालच दे देता है? वो आपसे कहता है, “ज़िंदगी चल रही है न, तुम्हें नीचे के सुख तो मिल ही रहे हैं? शरीर के सुख मिल रहे हैं, मन के सुख मिल रहे हैं, ज्ञान के सुख मिल रहे हैं।“

शरीर का सुख कहाँ मिल रहा है? अन्नमय-कोश में। जिसे तुम कहते हो जीवन का सुख, वो तुम्हें कहाँ मिल रहा है? प्राणमय-कोश में। इच्छाओं को पूरा करने का सुख मनोमय-कोश में है। ज्ञान से जितने तरह की उपलब्धियाँ और सुविधाएँ हासिल की जाती हैं, उनके सुख विज्ञानमय-कोश में हैं।

“ये सब तो तुमको सुख मिल ही रहे हैं, साथ-ही-साथ रोज़ तुम थोड़ी देर के लिए समाधि का भी सुख ले लिया करो, किस कोश में? आनंदमय-कोश में।“

कैसे ले लिया समाधि का सुख? ध्यान पर बैठ गए, कुछ गा लिए, कोई और विधि आज़मा ली। तो थोड़ी देर के लिए आनंदमय-कोश का भी सुख ले लिया; पाँचों कोशों का अनुभव ले लिया, क्या बात है, क्या बात है। बस किस से चूक गए? आत्मा से; जो सब कोशों के पार है, जो पाँचवें कोश का उल्लंघन करने के बाद मिलती है, उस पर चूक गए। तो ये जो हमें एक तरीका दिया गया है ये एक आदर्श है, ये एक मॉडल (प्रतिरूप) है, ये एक नमूना है। पाँच कोश कहीं होते नहीं हैं, ये एक तरीके की व्यवस्था बनाई गई है अपने अस्तित्व को समझने के लिए, कि, "हम हैं कौन?"।

ऋषि से किसी ने पूछा होगा, "हम हैं कौन?" तो ऋषि ने ऐसे करके जवाब दिया, कि, "देखो हम पाँच तलों पर जीने वाले लोग हैं, और ये पाँच तल हो सकते हैं। और ये जो पाँचों तल हैं ये पाँचों अनात्मा के तल हैं, इन पाँचों तलों पर अहंकार जीवित रह जाता है, इन पाँचों तलों पर अहंकार ही वास करता है। इसीलिए ये पाँचों तल वो हैं जिनका तुमको कभी न कभी त्याग करना है, या उल्लंघन करना है। वास्तव में तुम हो आत्मा, जो पाँचों कोशों से विलग है और अतीत है।"

जी तो तुम इन कोशों में ही रहे हो न लेकिन? तो फिर इन कोशों का करना क्या है? जीवन क्यों है? जीवन का तो मतलब ही यही है कि तुम कोशों में जी रहे हो। फिर, ये कोश इसलिए हैं ताकि इन कोशों का तुम सही इस्तेमाल करके इन्हीं कोशों से आगे निकल जाओ। इन कोशों को भोगने की नज़र से नहीं देखना है, संसाधन की दृष्टि से देखना है; ये दो बहुत अलग-अलग बात है।

इन कोशों को ऐसे नहीं देखना है कि इन्हीं कोशों को भोग-भोग के इन्हीं से सुख ले लें। इन कोशों को ऐसे देखना है कि, "ये जो कोश हैं ये मेरे लिए ऊर्जा हैं, ईंधन हैं, अवसर हैं, संसाधन हैं। मुझे इनका समुचित प्रयोग करना है ताकि मैं इन्हीं का इस्तेमाल करूँगा और इन्हीं से आगे निकल जाऊँगा।"

इन कोशों में सब आ गया है न? शरीर आ गया, मन आ गया, बुद्धि आ गई, और तुमने शरीर, मन, बुद्धि का प्रयोग करके जो कुछ भी अर्जित करा है; ज्ञान, सम्पदा, धन, वो सब भी आ गया। तो पाँच कोशों में तुम्हारा पूरा संसार आ गया। इस तुम्हारे पूरे संसार का तुम्हें करना क्या है? प्रयोग करना है, समुचित प्रयोग; इसका प्रयोग करके लाँघ जाना है।

तो ये है पंचकोशीय व्यवस्था।

समझो तो कि चाहिए क्या

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, जब सत्य या चेतना चुनाव करते हैं तो विवेक क्या है? चेतना और सत्य क्या भिन्न हैं? जब हम अध्यात्म की पहली सीढ़ी चढ़ते हैं, तो क्या विवेक ही नहीं है जो बढ़ता है? जहाँ अभी तक समझ में आया है तो ऐसा प्रतीत होता है कि विवेक या बुद्धि तो प्रकृति है, तो विवेक बढ़ने से सत्य का चुनाव कैसे प्रभावित होता है? कृपया समझाएँ।

आचार्य प्रशांत: हमारी चेतना अशुद्ध चेतना होती है, उसका लक्ष्य होता है 'सत्य'। तो हम जैसे हैं, जीव की जो स्थिति होती है, उसमें चेतना और सत्य बिल्कुल भी एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं। सत्य अद्वैत होता है, चेतना लगातार द्वैत में काम करती है; सत्य में पूर्णता होती है, चेतना हमेशा आधी-अधूरी होती है; सत्य निष्काम है, चेतना में हमेशा इच्छा है, कामना है। लेकिन चेतना पहुँचना सत्य तक ही चाहती है, क्योंकि उसमें जो दोष है, अशुद्धि है, उसमें जो विकार मिला हुआ है उसके कारण वो कष्ट में रहती है; वो कष्ट ही उसको फिर प्रेरित कर सकता है सत्य तक जाने के लिए।

तो पहली बात तो चेतना और सत्य को एक न समझा जाए; हाँ, विशुद्ध चैतन्य और सत्य एक होते हैं। लेकिन ये बड़े अहंकार की बात हो जाएगी कि हम जैसे हैं, हमारा जैसा मन है, और हमारी जैसी चेतना है हम उसी को सत्य बोल डालें। चेतना क्या है? ये भाव, "मैं हूँ, और संसार है, और मैं संसार का द्रष्टा हूँ, मैं संसार का अनुभोक्ता हूँ, मैं हूँ संसार में," यही चेतना है; कोई उसमें लंबी-चौड़ी जटिलता नहीं। संसार है, मैं हूँ, ये मेज़ है (मेज़ की ओर इशारा करते हुए), मैं बैठा हुआ हूँ, ये मेरा शरीर है, शरीर पर मैंने कपड़े पहन रखे हैं। ठीक है? मेज़ मंच पर रखी है, मंच ज़मीन पर बना हुआ है, यहाँ लोग बैठे हैं; ये सब क्या है?

दरवाज़ा खुला, कोई अंदर आ गया; ये क्या हुआ? चेतना में किसी का प्रवेश हो गया। ऐसा नहीं है कि इस कमरे में ही किसी का प्रवेश हुआ है; चेतना में प्रवेश हो गया, क्योंकि उस व्यक्ति का आपने संज्ञान लिया, उस व्यक्ति का आपने अनुभव लिया, तो वो बस इस कमरे में ही नहीं आया, वो आपकी चेतना में भी आ गया। ठीक है? आपकी आँखें बंद होतीं और वो कमरे में आता तो क्या होता? फिर वो सिर्फ़ कमरे में आता, आपकी चेतना में नहीं आता। आप सो रहे होते और वो कमरे में आता तो क्या होता? कमरे में आता, आपकी चेतना में नहीं आता। तो ये है चेतना।

पूरा संसार ही चेतना है, और उस संसार के केंद्र पर कौन बैठा होता है? जिसको संसार दिख रहा है, जो संसार को छू रहा है, सुन रहा है, अनुभव ले रहा है; वो है अहं।

तो इसलिए मैंने आरंभ में ही कहा कि हमारी चेतना अशुद्ध चेतना है, क्योंकि उसके केंद्र में बैठा हुआ है अहं। अहं बैठा है और अहं हर वस्तु को, विषय को देख रहा है, उसको नाम दे रहा है, उससे संबंध बना रहा है, उसे अच्छा-बुरा घोषित कर रहा है, उसमें गुण-दोष देख रहा है; ये सब काम अहं कर रहा है।

ये पूरी दुनियादारी का खेल कहाँ चल रहा है? चेतना में। ठीक है? तो इसको हम ऐसे कह देते हैं कई बार, कि चेतना का बड़ा समुद्र है जिसमें तमाम छोटे-बड़े विषयों की छोटी-बड़ी लहरें उठती गिरती रहती हैं; कभी-कभी उसमें बड़े तूफ़ान भी आ जाते हैं, कभी सुनामी भी आ सकती है और कभी वो सतह पर बहुत शांत, स्थिर भी हो सकता है। तो ये चेतना है।

इस चेतना में लगातार गति होती रहती है, कंपन होते रहते हैं। सत्य में तो कोई गति, कोई कंपन होता नहीं है, वो तो अचल है, स्थिर; उसको तो हिलने के लिए कोई जगह ही नहीं, तो कहाँ हिलेगा? लेकिन ये जो पूरी गतिशीलता है चेतना की, ये गतिशीलता अंततः विश्राम पाने के लिए है; तो इसलिए हमने कहा कि चेतना का लक्ष्य है 'सत्य'।

गतिशीलता माने चेतना, विश्राम माने सत्य।

अब प्रश्न उठता है, "विवेक क्या है?" विवेक चेतना को उपलब्ध एक वैकल्पिक शक्ति है; आप उसका प्रयोग चाहे तो करें, चाहे तो न करें। आप उसका प्रयोग करें तो विवेकी कहलाते हैं; विवेक को अगर आप चुनें, विवेक का प्रयोग करें तो आप कहलाएँगे विवेकपूर्ण या विवेकी। और नहीं चुनें विवेक को, ऐसा अधिकार भी आपके पास है, तब आप अविवेकी हो जाएँगे; विकल्प है।

विकल्प किसके पास है? उसी के पास होगा जो चेतना के केंद्र पर बैठा है, क्या नाम है उसका? अहं। तो अहं को पहुँचना तो सत्य तक ही है लेकिन सत्य तक पहुँचने के लिए सीधा रास्ता वो चुन भी सकता है, नहीं भी चुन सकता है। सीधा रास्ता सत्य तक पहुँचने का चुन लिया तो वो क्या कहलाएगा? विवेकी। नहीं चुना तो? अविवेकी। सीधा रास्ता न चुनने के पीछे तर्क क्या होता है अहं के पास? क्योंकि पहुँचना तो उसे सत्य तक ही है, सीधा रास्ता नहीं चुन रहा तो कुछ तो उसने अपने-आपको तर्क, कुछ बहाना बताया होगा न?

क्या तर्क बताता है? वो कहता है, "सीधा रास्ता कुछ ठीक नहीं है, सीधे रास्ते पर अड़चन ज़्यादा होगी। ये लोग जो सीधा रास्ता चुनते हैं, बहुत होशियार नहीं मालूम पड़ते। मैं ज़रा ज़्यादा बढ़िया रास्ता चुनूँगा।" ऐसा कहकर वो टेढ़ा-टपरा रास्ता चुनता है;

इधर से कुछ करेगा, उधर से कुछ करेगा, वो ज़्यादा होशियारी बताता है। ये सहज बुद्धि के ऊपर जटिल मार्ग को वरीयता देना, यही अविवेक है।

विवेक क्या है? जो चाहिए उसको सीधे ही माँग लिया, कि, “जब सत्य तक जाना है तो घूम-फिरकर के क्या जाएँ, शांति ही तो चाहिए न? पचास माध्यमों को अपनाकर शांति तक क्यों पहुँचें?”

प्र: आचार्य जी, क्या विवेक और बुद्धि प्रकृति के ही हैं, और क्या विवेक बढ़ने से सत्य का चुनाव भी प्रभावित होता है?

आचार्य: बिल्कुल, विवेक के बढ़ने का मतलब ही यही है कि जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं में जो निरंतर आपके निर्णय होते हैं, उनमें आप और ज़्यादा तीव्रता से सत्य का ही चुनाव कर रहे हैं; क्योंकि चुनना तो बार-बार पड़ता है। तो पहली बात, कितनी तीव्रता है, इंटेंसिटी , आपके चुनाव में, दूसरी बात, कितनी आवृत्ति है, फ्रीक्वेंसी , सत्य के चुनाव में; ये दोनों बातें देखनी होती हैं। इन्हीं दोनों बातों से विवेक तय होता है, और इन दोनों में ही घपले का काम हम कर देते हैं।

संभावना पूरी है कि हम कुछ-न-कुछ गड़बड़ कर देंगे। कैसे? सत्य चुना, लेकिन चले सत्य के रास्ते पर; सत्य माने सच्चाई, सीधी बात। ठीक है? चले सच के रास्ते पर, सही रास्ते पर कुछ अड़चन आ गई, जल्दी से हार मान ली; यहाँ किस चीज़ की कमी थी? आपके चुनाव में क्या नहीं थी? तीव्रता नहीं थी, जान नहीं था, प्राण नहीं था, एक आवेग नहीं था, सच का चयन आप पर छा नहीं पाया। सच को आपने चुना तो, पर ऐसे ही जैसे कोई इस तौलिए को चुन ले (अपने हाथ में तौलिया उठाते हुए), कि अभी हाथ में चुन लिया है, पकड़ लिया है, और अभी छोड़ भी दिया। ऐसा नहीं हुआ कि सच ने आप पर पूरे तरीके से अधिकार कर लिया, आप आविष्ट हो गए, आप पज़ेस्ड (अधीन) हो गए, आप चार्ज्ड (आवेशित) हो गए ऊपर से लेकर नीचे तक; वो नहीं हो पाया है। तो एक तो ये कमी हो सकती है।

दूसरी कमी ये हो सकती है कि काम चलाने के लिए, औपचारिकता निभाने के लिए दिन में जब पाँच-दस निर्णय के मौके आए, उसमें से एक-दो बार सही निर्णय कर लिया; यहाँ पर क्या गड़बड़ है? आवृत्ति; और आप अपने-आप को ये दिलासा भी दे रहे हो कि मैं तो दिन में देखो कम-से-कम एक-दो बार तो सच्चा काम करता हूँ न? ये दोनों ही चीज़ें नहीं चलेंगी।

हाँ, बुद्धि प्रकृति की होती है। ठीक है? अहं भी प्रकृति का ही होता है। और अहं के पास जो ताकत है, अधिकार है, कि वो अपने लिए कष्ट चुन सकता है या मुक्ति, आनंद, सहजता, ये भी समझ लो कि प्रकृति के पास ही होता है। सत्य के पास कोई अधिकार नहीं

होते; सत्य के पास न अधिकार है, न आधार है। अधिकार किस पर चलाएगा सत्य? हालांकि हम प्रचलित मुहावरे में ऐसा बहुधा कह देते हैं कि, “सच का अधिकार तो सब पर चलता है, पूरी दुनिया पर चलता है,” लेकिन वो बस ऐसे ही कहने-सुनने की, कामचलाऊ बात है। सच्चाई तो ये है कि सच के पास कोई अधिकार नहीं है, वो अधिकार का प्रयोग किस पर करेगा? वहाँ तो कोई दूसरा है ही नहीं।

इसी तरीके से सच वास्तव में निराधार होता है। हालांकि निराधार शब्द का इस्तेमाल हम प्रचलित बोलचाल में थोड़ा निंदा जताने के लिए करते हैं, है न? हमें किसी की कोई बात में दम नहीं लगेगा तो उसको हम कह देंगे कि आपकी बात निराधार है; निराधार नहीं होती है, मूर्खता से भरी हुई बात भी आधार रखती है। आधार क्या होता है मूर्खता का? आदमी की वृत्तियाँ; तो वहाँ आधार होता है।

एक आदमी कोई बहुत ही घटिया हरकत कर रहा है या बहुत ही व्यर्थ बात बोल रहा है, वो बात निराधार नहीं है, उसका आधार है। क्या आधार है? उसे भाई अपना अहंकार बचाना है, या कोई अपना स्वार्थ पूरा करना है, तभी तो वो ऐसी हरकत कर रहा है; तो आधार है वहाँ मौजूद। निराधार तो वास्तव में सिर्फ़ सच्चाई होती है; सच्चाई का न आगा न पीछा, उसका कोई आधार नहीं होता, वो बस है, ऐसे ही है। क्यों है? नहीं, ऐसे ही है बस।

सच्चाई के पीछे भी अगर कुछ ‘क्यों' है, तो वो सच्चाई नहीं स्वार्थ हो गई न फिर? सच्चे काम की यही पहचान होगी, उसके पीछे कोई बहुत ठोस कारण आप बता नहीं पाएँगे। हाँ, बातचीत में यूँ ही किसी को थमाने के लिए कोई सस्ता आपको कारण बताना हो तो आप बता सकते हैं; पर आप खुद से ही पूछेंगे, हृदय की गहराई में झाँकेंगे, तो आप पाएँगे कि सच्चे काम के पीछे कोई वजह होती नहीं है, सच अपनी वजह आप होता है।

तो अहं मुक्ति के लिए लालायित रहता है। बुद्धि को भी संचालित करने वाला कौन है? अहं। ये सब शक्तियाँ हैं, संसाधन हैं, जो अहं को उपलब्ध हैं: बुद्धि, तर्क, स्मृति, बल, समय, स्थान; ये सब अहं को उपलब्ध संसाधन हैं। अब अहं पर निर्भर करता है कि वो इनका उपयोग कैसे करता है।

अपनी सच्चाई जानने के तरीक़े

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, सत्र से पहले आपसे जो बात हुई थी उसमें आपने कहा था कि जो उपनिषदों के श्लोक हैं, उपनिषदों में जो बात कही जाती है, आप उसको तथ्य की तरह देख पाते हैं; मगर हमारे लिए तो ये एक सिद्धांत की तरह है। और वैसे ही, हमारी बात जब चेतना के ऊपर हुई थी, कि हमारा वास्तविक स्वरूप जो है वो चेतना है, तो उसमें आप ने ये कहा था कि "निरंतर अभ्यास से ही ये बात अपने अंदर बैठ जाती है कि आपका स्वरूप जो है, वास्तव में चेतना ही है।" तो ये एक तरीके से एफर्मेशन (अभिपुष्टि) से कैसे अलग है ये? वैसा ही कुछ तो नहीं है?

आचार्य प्रशांत: नहीं एफर्मेशन नहीं है, प्रयोग है।

एफर्मेशन तो होता है कि तुमने कोई निष्कर्ष बस मान लिया है और तुम उसे बार-बार दोहरा रहे हो, वो तो कंडीशनिंग (अनुकूलन) हो गई। ये प्रयोग है; कि बार-बार, बार-बार कोई प्रयोग करा, भले ही वो प्रयोग तुम्हारी वृत्तियों के कितना भी विरुद्ध हो, भले ही वो काउंटर इंट्यूटिव (वृत्तियों के विरुद्ध) क्यों न हो, पर इतनी बार वो प्रयोग करा कि अंततः वो प्रयोग बिल्कुल मन में जम गया। तरीके-तरीके से अपने आपसे पूछा, कि, "शरीर हूँ मैं कि चेतना हूँ मैं?" दिन में सौ-बार पूछा। और ऐसे नहीं पूछा कि पहले ही उत्तर पता है; कि पूछूँगा और फिर कहूँगा, "मैं तो चेतना हूँ," ऐसे नहीं। बिल्कुल पूर्वाग्रह-रहित होकर के पूछा, "अच्छा! कौन हूँ मैं? चलो एक नया प्रयोग करके देखते हैं।"

चलो अभी एक नया प्रयोग करके देखते हैं, ठीक है? कहीं दर्द हो रहा है शरीर में?

आचार्य: पीठ में दर्द हो रहा है। बाकी अंगों का ख़्याल क्यों नहीं आ रहा? अगर तुम शरीर हो तो तुम्हें शरीर के सारे अंग एक-साथ अनुभव होने चाहिए न? तुम्हें सिर्फ पीठ का ही अनुभव क्यों हो रहा है?

प्र: क्योंकि उसमें पीड़ा है।

आचार्य: बात ये नहीं है कि पीठ में क्या है, बात ये है कि पीठ में कौन-सी चीज़ है जो अनुभव ले रही है। ये मत बोलो, "पीठ में पीड़ा है।" मैं कहूँगा, "पीठ में चेतना है।" तुम्हारी चेतना जाकर के पीठ में चिपक गई है इसलिए पीठ का अनुभव हो रहा है। तो शरीर पहले आ रहा है या चेतना पहले आ रही है?

आचार्य: चेतना ही तुम्हें शरीर का एहसास करा रही है न? अगर शरीर में ही बहुत सामर्थ्य होती, तो शरीर के जितने हिस्से थे सब तुम्हें अपना एहसास करा रहे होते। शरीर में कोई कुछ नहीं; शरीर तो ऐसा है जैसे ये सब कुछ पड़ा हुआ है (अपने सामने मेज पर रखे सामान की तरफ़ इशारा करते हुए) और एकदम अंधेरा है, और फिर इस पर टॉर्च की रोशनी मारी जाए। तुम्हें वही हिस्सा दिखाई देगा न जिस पर टॉर्च की रोशनी पड़ रही है?

चेतना क्या है? टॉर्च की रोशनी। शरीर क्या है? ये सब जो जड़ वस्तुएँ यहाँ पड़ी हुई हैं; वो कहने को तुम्हारी हैं, तुम्हारे ही कमरे में पड़ी हुई हैं, पर तुम्हें उनका कोई अनुभव ही नहीं होगा जब तक उन पर चेतना की रोशनी नहीं पड़ेगी। बंद कमरे में; तुम्हारा ही कमरा है, तुम्हारी ही चीज़ें हैं; बंद कमरे में जब चीज़ें पड़ी हैं तो तुम्हें उनका कोई अनुभव होता है? दृष्टि के माध्यम से? कोई होता है अनुभव?

जब उन पर क्या पड़ता है? चेतना का प्रकाश, तो अनुभव होता है। तो पहले क्या आया?

आचार्य: तो इस तरीके के सवाल दिन-भर पूछने होते हैं।

ये एफर्मेशन की मैं नहीं बात कर रहा हूँ, कि तुमने अपने-आपको बिल्कुल मंदबुद्धि बना करके रट लिया है, “मैं तो चेतना हूँ। मैं तो चेतना हूँ। मैं चेतना हूँ।" ये नहीं करना है; ठोस सवाल पूछने हैं, ठोस सवाल पूछने हैं और उनके तर्कयुक्त उत्तर ढूँढने हैं। और वो सारे उत्तर तुम्हें जब एक ही दिशा में जाते दिखेंगे तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा, कि साहब… (मैं तो चेतना ही हूँ)।

एक दिन तुम अपने शरीर से संबंधित जितने भी नाप-जोख़ ले सकते हो ले लेना; अपना वज़न नाप लेना, अपना ब्लड-प्रेशर (रक्त-चाप) नाप लेना, अपनी हृदय- गति नाप लेना, ठीक है? तुम्हारे रक्त में ग्लूकोज़ कितना है ये नाप लेना, और दो-चार कर लेना; ये ऐसे दिन करना जिस दिन तुम्हारा कुछ काम करने का मन न हो रहा हो, उदास हो, और बिल्कुल आलस भी छा रहा है। और कोई दिन तुम पकड़ना जिस दिन मन बिल्कुल प्रफुल्लित है, उत्साह से भरा हुआ है; उस दिन भी शरीर से संबंधित जितने आँकड़े हैं वो भी देख लेना। और तुम्हें ये पता चले, कि मन की स्थिति में ज़मीन-आसमान का अंतर है और शरीर की स्थिति में कोई ज़्यादा अंतर नहीं; शरीर की स्थिति में एक प्रतिशत-दो प्रतिशत का ही अंतर है, लेकिन मन की स्थिति में ज़मीन-आसमान का अंतर है; तो तुम्हें क्या पता चला?

प्र: कि हम शरीर नहीं हैं।

आचार्य: तुमसे कोई पूछ रहा है दूसरे दिन, “कैसे हो?” तुम कह रहे हो, “बहुत-बहुत मस्त हूँ।“ पहले दिन भी पूछ रहा है, “कैसे हो?” तो कह रहे हो, “फाँसी का फंदा ढूँढ रहा हूँ।“ सब कुछ बदल गया है तुम्हारी हालत में, किसके बदलने के कारण? क्या शरीर बदला?

आचार्य: तो क्या बदला था? चेतना की स्थिति बदली थी न?

चेतना बदली, तुम बदल गए। चेतना के बदलने में उत्साहित होने और आत्महत्या के लिए उत्सुक होने जितना अंतर है; और शरीर? शरीर बिल्कुल नहीं बदला था। अब बताओ तुम्हारा पहला संबंध फिर चेतना से है, या शरीर से है? बोलो?

आचार्य: एक से एक जवान लोग जिनका शरीर बिल्कुल हट्टा-कट्टा है; हट्टा ही कट्टा नहीं है, सांड जैसा सशक्त शरीर; वो क्या कर लेते हैं कई बार? आत्महत्या कर लेते हैं। क्यों? शरीर तो अच्छा था, क्या बुरी हो गई थी?

आचार्य: तो तुम्हारा पहला संबंध किससे है फिर, शरीर से कि चेतना से?

अगर शरीर से तुम्हारा पहला संबंध होता, तो शरीर इतना प्यारा है, सुंदर है, आकर्षक है, बलिष्ठ है, क्यों करी आत्महत्या? क्योंकि तुम्हारा पहला संबंध किससे नहीं है? शरीर से नहीं है। शरीर बहुत अच्छा हो तो भी तुम्हारा मन कर सकता है कि जीवन समाप्त कर दो; लेकिन चेतना अगर अच्छी है तो तुम्हारा मन कभी नहीं करेगा कि जीवन समाप्त कर दो।

तो बताओ तुम पहले क्या हो, चेतना या शरीर; क्या हो?

आचार्य: यही सब सवाल रोज़ पूछने होते हैं।

प्र: इस उदाहरण में हम चेतना और मन को एक जैसा ही मान रहे हैं।

आचार्य: हाँ। तुम्हारा घुटना ‘मैं' नहीं बोलता; तुम्हारी पहली पहचान ही घुटने के साथ नहीं है।

तुम कई बार कहते हो, “मेरा अपमान हो गया।" बताओ शरीर का क्या बिगड़ा है? और बहुत ज़बरदस्त चोट लगती है न? अंदर से बिल्कुल मुरझा जाते हो। मेरा क्या हो गया? अपमान हो गया। बताओ शरीर का क्या बिगड़ा है? नाक पर चोट लगी है? जब कहते भी हो, “मेरी नाक कट गई, मेरा अपमान हो गया।“ नाक पर वाकई चोट लगती है क्या? नाक तो वैसे ही है, लेकिन तुम भीतर से कुम्हला गए बिल्कुल; ये क्या हुआ है? कहाँ

चोट लगी है? शरीर पर तो लगी नहीं। फिर भी तुम्हारी हालत इतनी ख़राब है कि तुम मुँह छुपाना चाहते हो इधर-उधर। क्या हुआ है? बोलो?

और कई दफ़े तुम शरीर पर खूब घाव खाकर भी बड़े आनंदित रहते हो। शरीर हो तुम क्या? अगर शरीर होते तुम, तो शरीर पर घाव लगने पर तो तुम्हारी हालत निश्चित रूप से ख़राब होनी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं है। कई बार शरीर का घाव बुरा लगता है, और कई बार शरीर के घाव पर गौरव भी होता है, होता है कि नहीं?

शरीर से तुम्हारा संबंध ज़रुर है, लेकिन वो तुम्हारी पहली पहचान नहीं है।

बहुत भूख लगी है, कोई फेंक के खाना देदे; क्यों ठुकरा देते हो? भूख तो बहुत लगी थी। शरीर क्या बोल रहा था? "खा लो।" तो क्यों ठुकरा दिया? और कई बार बहुत भूख लगी है, चाहे एकदम भूख नहीं लगी है, और एकदम सड़ा-गला खाना है पर किसी ने प्यार से दिया, खा लेते हो। तुम्हें पता भी है कि गंधा रहा है, दो दिन पुराना है, पर वो देने वाला इतने प्यार से दे रहा है, तुम कहते हो, "अच्छा लाओ।" क्यों? शरीर को तो नुकसान करेगा, क्यों खा गए? शरीर ही होते तुम तो ठुकरा देते न खाना वो? पर क्यों नहीं ठुकरा देते?

इन सब बातों पर रोज़-मर्रा की ज़िंदगी में क्या रखते हैं? नज़र; इसी को मैं बोला करता हूँ, "पल-प्रतिपल जीवन का अवलोकन करते चलो।" बहुत बातें अपने-आप चलते-फिरते खुलती रहती हैं; चल रहे हो, फिर रहे हो, खा रहे हो; बातें खुल रही हैं।

प्र: यही प्रयोग अगर कोई जानवर करे अपने पर, तो जो परिणाम आएँगे, नतीजे आएँगे, वो उल्टे आएँगे।

आचार्य: भिन्न आएँगे; एकदम भिन्न हो सकता है न आएँ, पर भिन्न आएँगे।

प्र: ये मुख्य सवाल है; चेतना की जो अवस्था है वो बदलती रहती है, बदलाव ही नियम है। बदलती चेतना की अवस्था में आदमी कैसे सम रहे, या फिर कैसे एक संतुलन बनाए रखे?

आचार्य: वो तभी हो सकता है जब दिखाई दे कि ये सारे बदलाव क्या माँग रहे हैं; देखो वरना पगला जाओगे।

अभी तुम ऊपर गए थे हिमालय पर थोड़ा-सा, और कोई दिशा नहीं होगी; उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम, जिधर को तुम्हारी गाड़ी ने मुँह न किया हो। वो जो पूरी आठ-दस घंटे की यात्रा है उसको याद करो। ठीक है? तुम जब इस एक बिंदु से चले हो और तुम्हें

पहुँचना वहाँ दूसरे बिंदु पर है, तो कायदे से तो गाड़ी को निरंतर सिर्फ़ इसी दिशा में मुँह करके ऐसे बढ़ते रहना चाहिए था। लेकिन जैसे चेतना की अवस्थाएँ तुम कह रहे हो बदलती रहती हैं, वैसे ही गाड़ी की दिशा कभी यूँ भी हुई है, कभी यूँ भी हुई है, कभी यूँ हुई है, कभी यूँ हुई है; तो तुम चिल्लाने क्यों नहीं लग गए, कि, "जाना तो मुझे यहाँ है"? और गाड़ी कई बार विपरीत दिशा में चलती हुई भी दिखाई दी होगी तुम को; बिल्कुल चली है, पहाड़ी रास्ता है, पूरा ऐसे जब गोल-गोल घूमेगा तो तीन सौ साठ डिग्री (अंश) घूमेगा न? हर दिशा को कभी-न-कभी गाड़ी का मुँह हो रहा है। तुमने कहा क्यों नहीं कि "दिशाएँ इतनी बदल क्यों रही हैं"? बोलो क्यों नहीं कहा?

अरे बाबा! प्रश्न समझ रहे हो?

मान लो तुम दक्षिण से चले हो, तुम्हें उत्तर को जाना है तो गाड़ी का मुँह निरंतर किधर को होना चाहिए? उत्तर को होना चाहिए। पर ये जीवन की गाड़ी है, रास्ते घुमावदार हैं; तो जाना भले ही अंततः उत्तर की ओर हो लेकिन मायावी रास्तों पर कभी उसका मुँह किधर को दिखाई पड़ता है? कभी दिखाई दे रहा है पश्चिम की ओर, कभी पूरब की ओर दिखाई दे रहा है, कभी दक्षिण-पूर्व की ओर दिखाई दे रहा है, कभी थोड़ा ऊपर आसमान की ओर भी कर रखा है मुँह; चढ़ाई आ गई है, कभी लग रहा है गोता खाने जा रही है गाड़ी, ढलान में आ गई है; ये सब क्या चल रहा है? और ये सब जो चल रहा था, इसके बीच में भी तुम सम कैसे रह गए?

समता माँगी है न तुमने प्रश्न में अपने? बताओ तुम सम कैसे रह गए?

प्र: क्योंकि मोबाइल में दिशा से दिख रहा था।

आचार्य: नहीं होता तो मोबाइल?

प्र: क्योंकि ये आश्वस्ति थी कि सही जगह ही जा रहे हैं।

आचार्य: हाँ, ये विश्वास, कि "किधर को भी घूम लूँ, मुझे मालूम है कि हर मोड़ मुझे लेकर 'वहीं' जा रहा है; रास्ता सही चुना है, अपनी पूरी सामर्थ्य से, पूरे बोध से रास्ता सही चुना है। अब इस रास्ते पर भी बहुत घुमाव आते हैं, मैं करूँ क्या? लेकिन जा सही रहा हूँ। बहुत अच्छा होता अगर मुझे मिल जाता सीधे उत्तर की ओर ही जाने वाला रास्ता।" पर जीवन ऐसा है नहीं; उत्तर की ओर भी जाना है तो कभी इधर को, कभी उधर को घूम-घूमकर जाना पड़ता है। जैसे तुम पहुँचे थे कौड़ियाला; हज़ार तरीके से घूम-घाम के पहुँचे हो, ऐसे-वैसे...।

समझ में आ रही है बात कुछ?

जीवन जॉमेट्रिकल (ज्यामितीय) नहीं है, कि शॉर्टेस्ट डिस्टेंस बिटवीन टू प्वाइंट्स इज़ द स्ट्रेट लाइन (दो बिंदुओं के बीच की न्यूनतम दूरी सीधी रेखा होती है), वहाँ तो चेतना के रंग बदलते रहते हैं; लेकिन समता फिर भी बनी रहेगी, शांत रहोगे बिल्कुल, ठंडे, शीतल; अगर जानते हो कि निशाना तुम्हारा सही जगह है, और अपनी सामर्थ्य के अनुसार वो सब कुछ कर रहे हो जो तुम्हें तुम्हारे अंत तक ले जा सकती है चीज़।

तो चेतना के रंग बदलते रहते हैं, पर ये निश्चित कर लेना बहुत ज़रूरी है कि हर रंग माँग एक ही चीज़ को रहा है।

चेतना की दिशा बदलेगी, रूप, आकार बदलेगा; ये सब होता रहेगा, लेकिन इन सबके बीच ये सुनिश्चित करे रहो कि ये जो कुछ भी हो रहा है उसी अंत तक पहुँचने के लिए हो रहा है। कभी हल्के पड़ना पड़ेगा, कभी भारी पड़ना पड़ेगा। कभी क्रोधित होना पड़ेगा, कभी शीतल होना पड़ेगा। कभी किसी के गले लगे होओगे, कभी युद्ध की भी नौबत आ सकती है। कभी थोड़ा रुक भी जाना पड़ेगा, कभी ज़ोर से दौड़ना पड़ेगा। ये सब बदलाव बाहर-बाहर चलते रहेंगे, भीतर ही भीतर तुम सम रहोगे; क्योंकि तुमको आश्वस्ति है कि जा तो सही ही दिशा रहे हो न। और जो कुछ भी तुम कर रहे हो ये सारा नाच-गाना, राग-रंग, ये सारा कार्यक्रम, ये सारी उथल-पुथल, ये सब उपद्रव; ये हो किसकी ख़ातिर रहा है? ये मंज़िल की ख़ातिर हो रहा है।

कहीं पहाड़ तोड़ रखा है, गाड़ी रोक दी तो उतर के जा रहे हो, और जिन्होंने गाड़ी रोक दी है उनसे कह रहे हो, “अरे भाई बहुत देर हो गई, चलो हटाओ मशीन, हमारी गाड़ी निकलेगी।" अब यात्रा में ये सब भी हो रहा है; ये सब होता रहेगा लेकिन भीतर से तुम बेचैन नहीं हो जाओगे, क्योंकि तुम को पता है कि ये बातचीत भी किसलिए कर रहे हो। मनोरंजन के लिए नहीं कर रहे हो बातचीत; क्यों गए थे बातचीत करने? दोस्त बनाना था? चाय पीनी थी? रिश्तेदारी करनी थी? क्या करना था? मंज़िल तक पहुँचना था इसलिए बात करने गए थे; ये हमेशा तय करके रखो बिल्कुल, “जो कुछ भी कर रहा हूँ उसी (परमात्मा) के लिए कर रहा हूँ।“ और उसके लिए सब कुछ करना पड़ेगा, “तेरा इश्क नचावे मने थैया, थैया,” वो नचाकर रखेगा; सारे रंग जब तक तुम जीवन के देख नहीं लोगे, हर तरीके से वो तुम को परख नहीं लेगा, तब तक मंज़िल आएगी ही नहीं।

छह गियर होते हैं गाड़ी में, और सातवाँ एक और, कौन सा? रिवर्स ; वो सारे लगवा देता है, कहता है, “मेरी तरफ़ आना है तो सारे गियर तुमको लगाने आने चाहिए।“ कहीं बहुत धीरे-धीरे चलना पड़ेगा, कहीं बहुत तेज़ चलना पड़ेगा; कई बार जब आगे पहुँचे तो थोड़ा पीछे भी जाना पड़ेगा। और सामने रख दिया है स्टीयरिंग , कि इधर भी काटो, उधर मोड़ो, ये करो, वो करो; तुम्हें सब कुछ करना आना चाहिए। ये

गणित का पर्चा नहीं है कि सीधे जाएँगे और घुस जाएँगे परमात्मा के घर में, धड़ाक से, नाक की सीध में जाएँगे बिल्कुल; ऐसे नहीं होता है।

कुछ बात समझ में आ रही है?

सब करना पड़ेगा, पर ये नहीं करना है कि रास्ता छोड़ दिया, रास्ता नहीं छोड़ना है। रास्ता सीधा नहीं है, और, रास्ता छोड़ना नहीं है; हमें ये दोनों बातें एक साथ समझ में ही नहीं आतीं। इन दोनों में से एक बात कोई भी समझ में आ जाएगी, दोनों एक साथ नहीं समझ में आतीं। ये दोनों जो एक साथ याद रख ले, वो विलक्षण मन होता है। रास्ता सीधा नहीं है, और पता भी चले कि सीधा नहीं है, टेढ़ा-टपरा हो रहा है, तो भी उसे छोड़ना नहीं है, क्योंकि है वही; उसको छोड़ दिया तो फिर ज़िंदगी के अन्य तमाम भटकाने वाले रास्ते हैं, उन पर भटकते रहो, भटकते रहो।

तो जो कुछ भी कर रहे हो उसमें ये तय करके रखो कि वो समर्पित है उसी मंज़िल को।

मैं गाड़ी पर चढ़ा क्यों? मंज़िल की ख़ातिर, मैं गाड़ी से उतरा भी क्यों? मंज़िल की ख़ातिर, मैं गाड़ी में ड्राइवर सीट पर क्यों आ गया? मंज़िल की ख़ातिर, मैं गाड़ी पर पिछली सीट पर जाकर सो भी क्यों गया? मंज़िल की ख़ातिर; अब ये सब तुम अलग-अलग काम कर रहे हो कि नहीं कर रहे हो? कभी तुम गाड़ी चला रहे हो, कभी ड्राइवर (चालक) के बगल में बैठे हो, कभी पीछे जाकर सो गए; ये सब बदलते हुए रंग हैं न चेतना के, कि नहीं हैं? सुषुप्ति में भी चले गए बीच-बीच में, गाड़ी में ही; स्वप्नावस्था भी देख ली, कहाँ? गाड़ी में ही। पर ये जो कुछ भी तुम करो, इतना तय करके रखो कि तुम कर किसकी ख़ातिर रहे हो? मंज़िल की ख़ातिर; बस फिर ठीक है।

और ये पक्का रखो कि मंज़िल तुमसे; जैसा अभी कहा, सब करवाकर मानेगी। वो तुमको हर तरीके से जाँचेगी, तुम्हारी एक-एक, छोटी-से-छोटी खोट खोज-खोज कर निकालेगी और तुमको परेशान करेगी; जब तक कि तुममें कोई भी कमी है वो उसी कमी को कोंचती रहेगी।

अब सोचो एक ड्राइवर है उसको रिवर्स लगाना नहीं आता, पहुँच जाएगा वो मंज़िल तक? लो फँस गया। एक ही कमी थी, क्या कमी थी? रिवर्स लगाना नहीं आता था, फँस गए। एक ड्राइवर है उनको यही नहीं आता कि शीशे पर पानी कैसे मारना है, ये भी फँस जाएँगे। छोटी-से-छोटी भी तुममें कमी है; टायर (पहिया) बदलना नहीं आता, जैक लगाना नहीं आता; कहीं-न-कहीं फँस जाओगे। अंत तक वही पहुँचेगा जो अपनी आख़िरी कमी को भी सुधारने के लिए प्रतिबद्ध है,कि, “बताओ और क्या? और क्या सीखूँ? बताओ और क्या? बताओ कहाँ खोट है उसको भी हटाएँगे।"

और करना सब कुछ पड़ेगा; जो सबसे ज़्यादा अजीब चीज़ हो सकती है वो भी करनी पड़ेगी, क्या? कि कई बार मंज़िल उत्तर की तरफ़ है और तुम अपने आपको जाता पाओगे दक्षिण की तरफ़; वो भी होता है। और बुरा नहीं लगेगा दक्षिण की ओर जाना, अगर तुम को पता है कि दक्षिण की ओर भी जा रहे हो तुम मंज़िल की ही ख़ातिर; फिर बुरा नहीं लगेगा, समभाव में स्थित रहोगे।

इसका विपरीत भी हो सकता है। हो सकता है कि तुम सही सड़क पर हो किसी वजह से; तुम्हें किसी ने बैठा दिया एक सही गाड़ी पर, तुम्हारा कोई शुभचिंतक है; लेकिन तुममें मंज़िल के प्रति न अनुराग है, न बोध, दोनों बातें नहीं हैं। मंज़िल पर पहुँचने की तुम्हारी कोई लालसा भी नहीं है, और मंज़िल है कहाँ ये तुम जानते भी नहीं; और तुम गए सो गाड़ी में, और तुम्हारी नींद खुली। नींद खुलने के बाद थोड़ी देर तक आदमी का होश ही नहीं रहता है न? गाड़ी सही जा रही है, लेकिन तुम्हारे भीतर कोई समभाव नहीं रहेगा। तुम इधर-उधर देखोगे बिल्कुल भौंचक्के होकर के, “कौन-सी गाड़ी है? मैं कहाँ बैठा हूँ? क्यों जा रही है?” हुआ है कभी ऐसा? कि सोकर उठे हो और दो मिनट तक समझ में ही नहीं आया है कि, “मैं कौन हूँ? मैं कहाँ बैठा हूँ? और ये गाड़ी कहाँ को, क्यों जा रही है?” जबकि गाड़ी सही जा रही है, लेकिन तुम्हें अभी निश्चित नहीं है न।

तो तुम्हारे भीतर वो चीज़ निश्चित होना, वो समर्पण का उठना ज़रूरी है, कि, “मैं सोया भी किसके लिए था? मंज़िल के लिए, उठा भी? मंज़िल के लिए।“

प्र: जब मैं अपनी चेतना की अवस्थाओं को परिस्थितियों के हिसाब से और माहौल के हिसाब से बदलते हुए देखता हूँ; और पिछले कुछ समय से वो बहुत ही ज़्यादा बदल रहीं हैं, मतलब घंटों में, और एक कोण से दूसरे कोण, एकदम चरम सीमा तक बदल रहीं हैं; विचार बदल जाते हैं, भावनाएँ बदल जाती हैं, सब कुछ बदल जाता है। तो मैं किसी भी परिस्थिति के कारण, किसी भी भावना में या किसी भी मनोस्थिति में होता हूँ, तो मैं उसको अनुभव कर रहा होता हूँ, उसी हिसाब से जी भी रहा होता हूँ। लेकिन मुझे ये भाव उठता है कि ये तो कुछ परिस्थितियाँ बनीँ उसके कारण ये ऐसा बन गया, परिस्थितियाँ बदलेंगी ये भी बदल जाएगा...

आचार्य: उस परिस्थिति में तुम हो क्यों?

तुम को किसी की दवाई लाने के लिए बाज़ार भेजा गया है, बाज़ार क्या है तुम्हारी? परिस्थिति। तुम कह रहे हो कि वो परिस्थिति तुम्हारे मन को बदल देती है। तुम दवाई लाने बाज़ार गए थे और बाज़ार तुम्हारे मन को बदल देगी, तुम वहाँ बैठकर बर्गर खाने लगोगे?

हम सब किसी-न-किसी परिस्थितियों में होते हैं, उन परिस्थितियों में तुम किसी वजह से हो न? ये उम्मीद करता हूँ। तुम्हें बाज़ार भेजा गया है दवाई लाने के लिए और तुम कह रहे हो, “मैं बाज़ार आया, बाज़ार एक परिस्थिति है, उस परिस्थिति ने मेरे मन को बदल दिया। मैं वहाँ बैठकर बर्गर खाने लग गया, क्योंकि मुझे बर्गर की दुकान दिखाई दे गई।“ अरे! तुम्हें दवा की दुकान के लिए भेजा गया है, तुम कह रहे हो, “मुझे परिस्थितियों ने बदल दिया।“ तुम्हें कुछ याद भी है कि तुम्हें उस परिस्थिति में डाला क्यों गया है, या तुमने स्वयं ही अपने-आपको उस परिस्थिति में क्यों डाला है? तुम ये बिल्कुल भूल जाते हो।

तुम जहाँ भी हो, जो भी तुम्हें अनुभव हो रहा है, क्या वो पूरे तरीके से निष्प्रयोजन है? बेतरतीब है? या कोई प्रयोजन है, कार्यक्रम है, प्रोजेक्ट है, उपक्रम है; तुम जिसके हिस्से हो। और अगर तुम उसके हिस्से हो, तो वो जो प्रयोजन है वो याद रहेगा न हर समय? फिर तुम परिस्थितियों का उपयोग करोगे; फिर तुम परिस्थितियों का शिकार थोड़े ही बन जाओगे। असल में परिस्थितियों का शिकार कोई बनता भी नहीं कभी; जब तुम्हें ये याद नहीं रहता न, कि तुम परिस्थितियों का उपयोग करने के लिए हो, तब तुम परिस्थितियों का उपभोग करना शुरू कर देते हो; यही माया है।

तुम गए थे बाज़ार का उपयोग करने किस चीज़ के लिए? दवाई के लिए, और वहाँ तुम्हें क्या दिख गया? बर्गर, और तुमने बर्गर का क्या शुरू कर दिया? उपभोग। और फिर कह रहे हो, “वो तो मेरा मन बदल गया बाज़ार को देखकर।" नहीं, नीयत बदल गई, नीयत में खोट है। जिसके लिए दवाई लाने गए हो, उसके लिए मन में कोई प्रेम नहीं, कोई करुणा नहीं, तो फिर परिस्थितियाँ हावी हो गईं, बर्गर हावी हो गया; अब बैठकर बर्गर चबा रहे हो, बहुत रस ले रहे हो। फिर पीछे से एक फ़ोन आया, फ़ोन से जूते बरसे तो फिर कहा, “अब देखो, अब परिस्थितियाँ बदल गईं, मन बदल गया। अब बड़ी लज्जा लग रही है, मैं बर्गर खा रहा था।“

मूल बात क्या है यहाँ पर? मूल भूल क्या है? जिसको बचाने के लिए बाज़ार भेजा गया था उसके प्रति शायद तुम में प्रेम ही नहीं, नहीं तो परिस्थितियाँ तुम पर हावी कैसे हो जातीं? तुम परिस्थितियों का उपयोग करते न? तुम कहते, “कहाँ है दवाई की दुकान? कहाँ है? ये रही।“ बर्गर की दुकान को तुम ऐसे-ऐसे-ऐसे करके क्या करते? ठुकराते चलते; उसको तो तुम गिनते नहीं, वो तुम्हारे लिए नगण्य हो जाती। नगण्य माने जानते हो न? जिसकी गिनती ही नहीं की जा सकती; अब परिस्थितियाँ तुम पर हावी कैसे हो जातीं?

भई इतने तो हम मुक्त कभी होते नहीं है, कि खाली बैठे हैं और बाज़ार में घूम रहे हैं। तुम जहाँ कहीं भी हो, क्या कभी मुक्त हालत में हो? नहीं, चूँकि तुम मुक्त नहीं हो इसीलिए तुम्हारे पास हमेशा क्या होता है एक? उद्देश्य होता है, वो उद्देश्य तुम भूल कैसे

जाते हो? बाज़ार तुम पर तब हावी होगा न जब तुम बाज़ार में तफ़री मारने लगो, “अच्छा! और क्या-क्या है इस बाज़ार में?” अरे भाई! तुम वहाँ तफ़री मारने नहीं आए, तुम वहाँ दवा लेने आए हो।

इससे एक बात अच्छे-से समझ लेना; जिसको तुम डिस्ट्रैक्शन (विचलितता) बोलते हो, उसमें और प्रेमहीनता में, लवलेसनेस (प्रेमहीनता) में बहुत सीधा रिश्ता है।

तुम डिस्ट्रैक्ट (विचलित) हो ही नहीं सकते जब तक तुम लवलेस (प्रेमहीन) न हो।

कोई बोले, “मैं दिन भर डिस्ट्रैक्ट था,” इसका मतलब यही है कि तुम आदमी अंदर से कठोर हो, क्रूर हो, हिंसक हो, प्रेम नहीं है तुम्हारे भीतर; प्रेम नहीं है तुम्हारे भीतर इसीलिए दवा की दुकान में भी बर्गर माँग रहे हो, और बर्गर चबाते-चबाते जब फ़ोन पर गालियाँ पड़ीं तो आँसू झर आए।

जानते हो त्रासदी क्या है? ये आँसू भी तुम्हारे उस मरते हुए आदमी के लिए नहीं आ रहे जिसको तुमने दवाई नहीं लाकर दी; ये आँसू भी तुम्हारे तुम्हारे अपने अहंकार के लिए हैं, कि, “हाय! मुझे डाँट पड़ गई।" अभी भी तुम रोकर भी जो वक्त गुज़ार रहे हो उसमें मरने वाला मौत के और करीब पहुँचता जा रहा है, और तुम रो रहे हो, लेकिन तुम्हारे इन आँसुओं में भी ज़बरदस्त क्रूरता है, क्योंकि तुम अपने लिए रो रहे हो। तुम इसलिए थोड़े ही रो रहे हो कि, “महापाप हो गया, वो मरने वाला मर गया,” क्योंकि अगर तुम को ये पता ही चल रहा होता कि महापाप हो गया, और मरने वाले को दवाई चाहिए, तो तुम्हें रोने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती। तुम कहते, “मैं रोऊँ कैसे? पहले ही देर कर दी है, अब भागो, दवाई लेकर के जाओ।“ ये जो तुम बैठकर के मातम मनाते हो और शोक में छाती पीटते हो, ये भी तो ज़बरदस्त तरीके का अहंकार ही है न? और क्रूर अहंकार, कि नहीं है?

लोग बोलते हैं, “आचार्य जी, आपकी बातों से हमें चोट लग गई।“ मैं कहता हूँ, “काश! ऐसा हो पाता।" तुम्हें लगी ही नहीं; नहीं तो एक चोट काफ़ी होती है, काम हो जाता है। तुम इतने ढीठ हो कि तुम्हें लगती ही नहीं। कैसे? बताता हूँ; मैं चोट देना चाहता हूँ यहाँ पर (हृदय की ओर इशारा करते हुए), तुम इतने ढीठ हो कि ऐसे-ऐसे करके (हाथों को अपने हृदय के ऊपर रखकर), सब कुछ करके बचा लेते हो। तो तुम्हें चोट लगती भी है तो कहाँ लगती है? कभी यहाँ (दाएँ हाथ) लगी, कभी यहाँ (बाएँ हाथ) लगी; वहाँ तुम लगने ही नहीं देते चोट जहाँ एक चोट लग जाए तो काम हो जाए। बाकी सब जगह तुम चोटें खा लोगे, वो एक जगह बचा लोगे जो तुम्हारे अहंकार का अड्डा है; वहाँ तुम को पक्का पता है कि इस जगह पर चोट नहीं पड़नी चाहिए।

तो बाकी सब चोटें खा लोगे और फिर रो लोगे; इसीलिए कह रहा हूँ, “वो रोना भी अहंकार का ही काम है।“

वृत्तियाँ क्या होती हैं?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, वृत्ति क्या होती है?

आचार्य प्रशांत: जो तुम्हें गोल-गोल फँसाए रखे सो वृत्ति। (हाथ से गोले का इशारा करते हुए) जो तुम्हें वर्तुल में घुमाए रखे, वृत्त में घुमाए रखे, सो वृत्ति। जिसमें चलते तो लगातार रहो, पर पहुँचो कभी नहीं, सो वृत्ति।

इंग्लिश मीडियम (अंग्रेजी माध्यम से पढ़ी) हो? वृत्त माने (हाथ से गोल का संकेत करते हुए) ये वृत्त कहलाता है, ये। तो इसपर दौड़ते हैं, दौड़ते हैं और लगातार यही लग रहा है कि मंज़िल मिल ही जाएगी, क्यों? क्योंकि अभी रास्ता शेष दिख रहा है – इसको कहते हैं वृत्ति।

थोड़ी शॉपिंग (खरीदारी) और कर लें, ये बॉयफ्रेंड नहीं तो (हाथ से कोई और का इशारा करते हुए) – ये वृत्ति है। चालीस से पचास, पचास से साठ, अस्सी, एक, दो, छः लाख, दस लाख, ये? (गोल-गोल का संकेत करते हुए)

जन्मे, मरे, जन्मे, मरे, जन्मे, मरे – ये (हाथ से गोल का संकेत करके)।

क्रोध, पछतावा, क्रोध, पछतावा, क्रोध, पछतावा – ये? (हाथ से वृत्त का संकेत करते हुए), उत्तेजना का उफान और फिर (हाथ दाएँ-बाएँ लहराते हुए) सूखा मैदान, ये वृत्ति।

और वही चीज़ अपनेआप को बार-बार दोहरा रही है, दोहरा रही है, दोहरा रही है, इसी को संतों ने काल-चक्र कहा है, जीवन-मरण का चक्र कहा है, चौरासी का फेरा कहा है। इसी से बार-बार बाहर निकलने की बात करी है।

जैसे कोई पागल बना रहा हो तुम्हें (मुस्कराते हुए), जैसे किसी ने बुद्धू बना दिया हो।

एक पिक्चर देखी थी मैंने (मुस्कराते हुए) – तुम लोग इस तरह के सवाल करते हो अब कहाँ मैं उपनिषदों की बात करूँ, तो मैं पिक्चरों की बात करूँगा – तो उसमें था कादर खान और शक्ति कपूर – देखो बात इसी तल पर तुम्हें समझ में आएगी – तो शक्ति कपूर जौनपुर से आया होता है, ठीक है, कहाँ? बम्बई। अब कादर खान एक कोने पर भिखारी बनकर बैठा हुआ है, ठीक? तो शक्ति कपूर जाता है कादर खान के पास, एक जगह का पता पूछता है। बोलता है, 'वहाँ कैसे जाना है?' कादर खान कहता है, 'जौनपुर

के हो?' शक्ति कपूर कहता है, 'तुम तो अंधे हो, तुम्हें कैसे पता?' बोलता है, 'वो चमेली का तेल लगाया है तुमने, तो ऐसे पता है मुझे।'

तो ये उससे पूछता है कि 'अच्छा वहाँ कैसे जाना है?' तो कादर खान कहता है, 'अच्छा, झुको तो बताता हूँ। पास आओ, गला ख़राब है', तो जैसे ही झुकता है, तो भिखारी ये खट से चाकू निकालता है, बोलता है, 'जो माल है सब यहीं पर रख दो।'

पूरा उसका सब माल-वाल – ये अपनी अटैची लेकर आ रहे होते हैं उत्तर प्रदेश से – वो सब माल-वाल उसका वो अंधा भिखारी बंबई का, वहीं रखवा लेता है। और कहता है, 'कपड़े-वपड़े भी उतार दो, सब अपना उतार देता है।'

तो शक्ति कपूर फिर कहता है कि 'अब सब लूट तो लिया ही है, मुझे जहाँ जाना है वहाँ का रास्ता तो बता दो' – लुटने के बाद, किससे प्रश्न पूछ रहा है? जिसने लूटा है उसी से, कि जहाँ जाना है वहाँ का रास्ता तो बता दो। तो कादर खान कहता है, 'ऐसा करो, इधर जाओ' (दाहिनी तरफ़ संकेत करते हुए); शक्ति कपूर बोलता है 'ठीक है'। बोलता है 'फिर वहाँ से दाएँ मुड़ना', कहता है 'ठीक'। कहता है, 'फिर वहाँ से लाल बत्ती आएगी', बोलता है, 'ठीक', बोलता है, 'वहाँ से फिर दाएँ मुड़ना', कहता, 'ठीक', कहता 'फिर आगे जाना', 'ठीक', 'वहाँ तिराहा आएगा', 'हाँ', 'वहाँ से उधर को जाना', कहता 'ठीक', 'फिर वहाँ से बाएँ मुड़ना', 'ठीक', कहता 'फिर?' बोलता है, 'फिर, तुम ठीक फिर वहीं आ जाओगे मेरे सामने।'

तो शक्ति कपूर बोलता है, 'तुम्हारे सामने दोबारा क्यों आऊँगा?' कादर खान बोलता है – ध्यान देना – 'ताकि मैं तुम्हें दोबारा लूट लूँ।' – ये वृत्ति है।

एक बार जिसके हाथों लुटे, उसी से दोबारा लुटने की उत्सुकता को कहते हैं वृत्ति। एक बार जो ग़लती करी, उसी ग़लती को दोहराने की आदत को कहते हैं वृत्ति।

कादर खान लूट रहा है शक्ति कपूर को, और शक्ति कपूर कादर खान से ही पूछ रहा है कि 'लूट तो लिया, अब मुझे मेरी मंज़िल का रास्ता भी बता दो।'

और वो भी खुलेआम बता रहा है; बोल रहा है, 'इधर जाओ, उधर जाओ, उधर जाओ, उधर जाओ और फिर घूम फिर करके मेरे पास वापस आ जाओ।' और वो पूछ रहा है, 'तुम्हारे पास क्यों वापस आ जाऊँ?' तो कह रहा, 'ताकि मैं तुम्हें दोबारा लूट लूँ।'

और वो बात मज़ाक की थी। मैंने कहा, ये बात तो आध्यात्मिक है, आप (प्रश्नकर्ता) ऐसे ही समझेंगी।

जिस दुकान पर एक बार लुटे, उसी दुकान पर बार-बार जाना कहलाती है वृत्ति।

प्र२: आचार्य जी, फिर तो ये आदत हो गयी?

आचार्य: वही है, वृत्ति आदत है। तुम्हारी पुरानी-से-पुरानी आदत का नाम है वृत्ति।

वृत्तियों के ज़ोर को कैसे कम करूँ?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, ये जो वृत्तियाँ बाहर की ओर जा रहीं हैं, यह एक सतत् प्रक्रिया है या उनपर जो हमारी लगाम है वो धीरे-धीरे कम होती जाती है?

आचार्य प्रशांत: देखिए, वृत्तियाँ ऐसी हैं कि जैसे मेरे हाथ में पत्थर हो, और मैं आपको मारूँ। आप सतर्क थे, आपने देख लिया, आप हट गए। तो दो काम होते हैं एक साथ – पहला, आप बच गए आपको पत्थर लगा नहीं; दूसरा, मेरा पत्थर खर्च हो गया, अब मैं आपको मार नहीं सकता। वृत्तियाँ इसी तरह आक्रमण करतीं हैं। जब वृत्तियों का आक्रमण हो और अगर आप बच निकले तो अगले आक्रमण की संभावना कम हो जाती है क्योंकि पत्थर खर्च हो गया।

जब वृत्ति आक्रमण करे तो जितनी बार आप उस आक्रमण से बच निकलो, उतनी बार आपने अगले आक्रमण की संभावना को कम कर दिया – इसी को निर्जरा कहते हैं।

प्र: ये जो अभी बच निकला, वो जो भी एंटिटी हो, वो किस स्रोत से संचालित है? वृत्ति से नहीं संचालित है?

आचार्य: वही तो खोजना है। कुछ है न भीतर जो बच निकलने के लिए तुम्हें लगातार प्रेरित कर ही रहा है।

आचार्य: कुछ है ऐसा, है कुछ।

दो पहलवान लड़ रहे हैं। पहला पहलवान बहुत ज़ोर लगाकर के दूसरे पर दाँव मारता है, दूसरा बच निकलता है। अब क्या होगा? पहले पहलवान ने अपनी पूरी ताक़त लगाकर दाँव मारा था, दूसरा बच निकला। अब क्या होना है?

प्र: पहले की ताक़त खर्च हो गई।

आचार्य: अब जब वो दूसरा दाँव लगाएगा तो उसमें वो ताक़त बची नहीं है और दूसरे की श्रद्धा, दूसरे का विश्वास और दृढ़ हो गया है कि मैं बच सकता हूँ। एक बार बचा हूँ, दोबारा भी बचूँगा। और दूसरी बार अब सिर्फ़ बचेगा नहीं वो, वो दूसरे को पटक देगा, क्योंकि पहले वाले की ऊर्जा का थोड़ा क्षरण हुआ है पहली बार में।

प्र: पर आचार्य जी, उसी क्षण में आती है न वो चीज़, उसी समय पर, कभी वो गुज़र जाने के बाद भी ग़लती हो जाती है।

आचार्य: जीवन पर निर्भर करता है, उस क्षण से उसको मत जोड़िएगा। आप जीवन कैसा जी रहे हैं यह निर्धारित करेगा कि अपनी तरफ़ आते पत्थर से ख़ुद को आप बचा पाते हैं कि नहीं। देखिए, आप अभी-अभी शराबखाने से निकले हैं और आपको पत्थर लग जाए तो आप यह नहीं कहिएगा कि इस क्षण में लग गया। इस क्षण में नहीं लग गया, पिछले दो घंटे ने तय कर दिया था कि पत्थर अब आएगा तो खाओगे। क्योंकि तुम बेहोशी का आयोजन कर रहे थे।

तुम कहोगे, 'अच्छा-अच्छा इसका मतलब दो घंटे से होता है न?' नहीं, दो घंटे से भी नहीं होता। शराबखाने में तुम यूँ ही थोड़े ही घुस गए थे, तुम जीवन ऐसा जी रहे थे जो अब नशे को आवश्यक बना रहा था। उससे पिछले छह घंटे तुम कहीं पर तनाव में जी रहे थे, तुम्हारा पत्नी से झगड़ा हुआ था, तुम भीतर-ही-भीतर जल-भुन रहे थे, तुम्हारे भीतर-ही-भीतर कुछ था जो घुट रहा था इस कारण तुम्हें शराबघर में जाना पड़ा। जीवन ऐसा था जिसके कारण जब पत्थर तुम्हारी ओर उछाला गया तब तुम इस हालत में नहीं थे कि उस पत्थर से बच सको।

प्र: आचार्य जी, ये वही है कि हम अपनी वास्तविकता को ख़ुद रच रहे हैं उस क्षण में?

आचार्य: जीवन! जीवन! जीवन! इधर-उधर की भाषाएँ मत कहिए, इधर-उधर की परिभाषाएँ मत दीजिए। आप प्रतिक्षण जैसा जीवन जी रहे हैं वह निर्धारित कर देगा कि प्रतिक्षण आप पर वृत्तियों के जो आक्रमण हो रहे हैं उनसे आप बचेंगे या चोट खाएँगे। याद रखिएगा, अगर मेरे पास पाँच पत्थर हैं और मैं पहला पत्थर आपको मारता हूँ और आप चोट खा जाते हैं, तो अब संभावना बढ़ गई है कि आप दूसरी बार भी चोट खाएँगे क्योंकि बच पाने की आपकी क्षमता कम हो गयी चोट खाने के बाद। और अगर आप पहली बार बच निकले तो मेरा एक पत्थर खर्च हो गया। जितनी बार आप बच रहे हो उतनी बार मैं कमज़ोर पड़ रहा हूँ। जितनी बार आप चोट खा रहे हो उतनी ज़्यादा आपकी आगे और ज़्यादा चोट खाने की संभावना बढ़ती जा रही है। मैंने आपको गोली मारी, आप भाग रहे थे, मैंने आपको गोली मार दी। अब मैं आपको दोबारा गोली मार दूँगा, इसकी संभावना बढ़ी या घटी?

आचार्य: क्योंकि अब आप भाग नहीं पाओगे।

एक बार गोलियों से बचिए, आगे गोली खाने की संभावना कम हो जाएगी। और मेरे पास गोलियाँ सीमित हैं, मैं कितनी देर तक मारूँगा? दूरी भी ज़्यादा होती जाएगी और वृत्तियों का नाश होता जाएगा। जितनी बार वृत्ति का आघात असफल होता जाता है

उतनी बार वृत्ति की अपनी क्षमता, उसका अपना संकल्प, उसकी अपनी तीव्रता, उसकी ऊर्जा क्षरित होती जाती है।

प्र: आचार्य जी, आप जिस आयाम में बात कर रहे हैं, शायद वो ये है कि एक पत्थर फेंका गया मेरी तरफ़, वो पत्थर मुझे आकर लगता है लेकिन लाइफ़ में तो वो पत्थर आ रहे हैं। पत्थर नहीं आ रहा, पत्थर आ रहे हैं। और आप कह रहे हैं कि अगर मैं किसी भी जगह से चोट खाऊँगा तो उस जगह ज़्यादा चोट खाने का तरीका मिल गया और इसके अंदर ये भी है कि हर क्रिया एक दूसरी प्रतिक्रिया को निमंत्रण देती है। तो अब क्या मैं हर कदम सोचकर लूँ कि मैं चारों तरफ़ से सुरक्षित हूँ?

आचार्य: सबसे पहले तो ये देखो कि तुम ऐसी स्थिति में फँस कैसे गए जहाँ तुम पर पत्थरों की वर्षा हो रही है।

आचार्य: अब वो हो ही रही है। अगर तुम यह पत्थर खाते ही गए तो अगले क्षण अपनेआप को और ज़्यादा चोटिल पाओगे। पत्थरों की बरसात और सघन हो जाएगी। और अगर बचते जाओ तो हर बचाव के साथ तुम अपने कदम वापस खींच रहे हो। तुम्हारी बचने की संभावना बढ़ती जा रही है।

प्र: जी, मतलब अगर एक बहुत ही भौतिक तरीके से देखें तो एक गरीब आदमी और एक बहुत अमीर आदमी के जीवन में समस्याएँ हैं। पर जो समस्याएँ उसकी हैं, शायद वो उसकी ख़ुद की नहीं हैं, लेकिन दोनों वो जो समस्याएँ झेल रहे हैं, उसमें अमीर आदमी की स्थिति अपेक्षतया बेहतर है, उसे एक विश्वास है अपने ऊपर क्योंकि उसके पास एक तजुर्बा है। उसके पास एक नेटवर्क है कि जिसके कारण उसे लगता है कि वो समस्या का समाधान कर लेगा। लेकिन गरीब आदमी जो चोट खाता हुआ आया है कि आज मालिक ने डाँट दिया, आज बीवी ने डाँट दिया, आज शराब नहीं मिली, जो भी है, तो उसके पास समस्या को सुलझाने की सुविधा थोड़ी कम है। अमीर आदमी के पास वो सुविधा पहले से ही बहुत ज़्यादा है। वो चोट खाता है लेकिन वो बढ़ता जाता है। वो पत्थर दूर करता हुआ आगे बढ़ता जाता है।

आचार्य: अगर गरीब और अमीर से संकेत सामर्थ्य का है कि गरीब के पास सामर्थ्य नहीं है और अमीर के पास ज़्यादा सामर्थ्य है, तो ठीक है।

प्र: हाँ, मतलब उसके पास एक अतिरिक्त साधन है, जो उसकी सहायता करेंगे पत्थर दूर करने में।

आचार्य: इस सामर्थ्य को, इस अमीरी को संतों ने बड़े सुंदर रूप से कहा है। इसको कहा है – 'धन्यता; धन का होना'। जिसके पास वास्तविक धन है, वो धन्य है। उपनिषद्

कहते हैं, ‘धन्योऽहं’; वो धन तुम्हारे पास है। वह धन तुम्हारे पास है, तुम वही धन हो। ‘धन्योऽहं’ वही अमीरी है। तुम्हारे पास वो ताक़त है कि तुम्हारे ऊपर खर्चे पड़ें तो तुम वो खर्चे कर लो और बच निकलो, वही धन्यता है। तुम्हारे पास एक अक्षत भंडार है।

पर तुम उसे इतना खर्च कर डालो या तुम उससे इतने दूर हो जाओ कि तुम्हें उसकी कोई खबर ही ना रहे तो कोई क्या कर सकता है फिर? फिर तो वही हालत हो गई कि बैंक अकाउंट में पैसे बहुत हैं, पर चेकबुक नहीं है। अकाउंट नहीं छिन गया, खर्च करते-करते एक दिन चेकबुक भी खर्च कर डाली। नहीं, खर्च नहीं हो सकता। पर लुटा रहे थे, लुटाते-लुटाते एक दिन क्या लुटा दिया? चेकबुक भी लुटा दिया, पासवर्ड भी लुटा दिया, चाबी भी लुटा दी। पैसा लुटाते तो लुटाते, चाबियाँ क्यों लुटा दीं? जुड़ने का ज़रिया क्यों लुटा दिया?

प्र: इस चीज़ की स्मृति है। बचपन का जो लचीलापन था, बहुत मजबूत हुआ करता था। जीवन ही प्रमाण है इसका तो। कोई चीज़ इतनी गहरी नहीं हुआ करती थी कि ‘हाय हाय! अब तो ज़िंदगी बर्बाद है, चलो आत्महत्या करते हैं।‘ वो अजीब-ओ-गरीब तरह के विचार ही नहीं आते थे कभी। हाँ, हुआ चलो खड़े हो गए, झाड़ लिया धूल, आगे बढ़ गए। अभी एक-एक चीज़ का बड़े स्तर पर असर होता है कि ‘भाई ये हुआ, भाई वो हुआ!’

तो वृत्तियों को वृत्तियों से नहीं काटा जा सकता है? अच्छी वृत्ति, बुरी वृत्ति?

आचार्य: नहीं! देखो, जिधर को तुम्हें तुम्हारा बहाव खींचे लिए जा रहा हो तुम उसके साथ बस सहयोग करने से इनकार कर दो।

तुम्हें उसके विपरीत नहीं जाना है, तुम्हें बस उसके साथ नहीं जाना है।

प्र: शायद आशा इसलिए इतनी घातक होती है।

आचार्य: ऐसे समझो कि तुम्हें किसी चीज़ की लत लगी हुई है। ठीक है? तुम जितनी देर यहाँ बैठी हो, कम-से-कम वो तो नहीं कर रहीं न जिसकी लत लगी है? हो गया। जितनी देर यहाँ बैठ रही हो, एक-एक क्षण जो तुम यहाँ बिता रही हो, तुम्हारी वो लत कमज़ोर पड़ रही है। क्योंकि वो लत भूखी है, वो भोजन माँगती है, ऊर्जा माँगती है। वो ऊर्जा जानती हो क्या है? तुम्हारा जीवन, तुम्हारा समय। तुम उसे अपना जीवन नहीं दे रहीं, तुम उसे अपना समय नहीं दे रहीं, तुम अपना समय कहीं और दे रही हो न? जितनी देर तुम अपना समय कहीं और बिता रही हो, उतनी देर तुम्हारी वो लत – और लत ही बहाव है, वो आदत ही बहाव है – उतनी देर तुम्हारी वो लत क्षीण पड़ती जा रही है।

सत्संग का यही महत्व होता है – वह तुम्हारे बहाव से हट करके कुछ होता है। वहाँ पर क्या हो रहा है, यह कोई बहुत महत्व नहीं रखता। महत्व तो बस इस बात का है कि वहाँ जो हो रहा है वो उस तल पर नहीं है जिस तल पर तुम्हारा शेष जीवन है। तो तुम्हें कुछ और देखने को मिला। क्या देखने को मिला? – वो अलग बात है। वो बहुत महत्व रखती ही नहीं। महत्व बस इस बात का है कि आयामगत अंतर था। कहीं और पहुँच गए जहाँ कुछ और हो रहा है, जो वो नहीं है जो हमेशा होता है। तो फिर वो जो हमेशा होता रहता है उसकी ताक़त ज़रा घट जाती है, उसकी पकड़ ज़रा ढीली पड़ जाती है।

तुम अब जब यहाँ से उठोगी, तुम्हारे पास प्रमाण होगा। तुम कहोगी कि 'अगर चार घंटे में बैठ गई बिना नशे के तो मतलब पाँचवे घंटे भी बैठ सकती हूँ।' यह घटना अपनेआप में तुम्हारे लिए भरोसा बन जाएगी। तुम्हें ताक़त दे जाएगी। तीन घंटे अगर यहाँ ध्यान में बैठ गयीं तो पाँच घंटे बाहर भी बैठ सकती हो। 'अगर इस बहाव में दो चार साँसें ले लीं, तो शेष साँसें उस दूसरे बहाव में भी ले सकती हूँ। उसको भी बदल सकती हूँ। उसको भी इसमें परिणीत कर सकती हूँ।'

वो जो पहला बहाव है वो कायम ही इस भरोसे रहता है कि 'यही तो ज़िन्दगी है यार!' तुम किसी से पूछना, तुम कहना उससे कि 'ये बहाव चल रहा है तुम्हारी ज़िंदगी में और तुम बहे जा रहे हो बेहोश।' तो कहेगा, 'होगा बहाव, पर यही तो ज़िन्दगी होती है, और क्या होता है?'

अभी यहाँ जो हो रहा है वो किसी चीज़ को प्रमाणित किए दे रहा है, जानती हो क्या? कि ज़िंदगी वैसी ही नहीं होती, ज़िन्दगी ऐसी भी होती है। कि अभिव्यक्ति मात्र वैसी ही नहीं होती, अभिव्यक्ति ऐसी भी होती है। कि साँसें वैसे ही नहीं ली जातीं, ऐसे भी ली जातीं हैं। कि वचन वैसे ही नहीं होते, वचन ऐसे भी होते हैं। कि सुनना वैसे ही नहीं होता, सुनना ऐसा भी होता है। कि बैठना वैसा ही नहीं होता, बैठना ऐसा भी होता है। कि देखना वैसा ही नहीं होता, देखना ऐसा भी होता है।

मन अविश्वासी होता है, मन हमेशा संदेह में घिरा होता है। ये जगह, ये घटना, ये होना, यह आयोजन, तुम्हें यकीन दिला जाता है कि 'ना, मन तू झूठ बोल रहा था। मन तू कह रहा था कि ना ऐसा तो कुछ होता ही नहीं, हम होकर आए हैं, हमने अनुभव किया, हमने जाना कि ऐसा होता है। और अगर ऐसा थोड़ी देर को हो सकता है तो हमें लग रहा है कि ऐसा सदा भी हो सकता है। सदा हो ना हो, कम-से-कम दो-चार दिन तो हो सकता है, तो दो-चार दिन तो प्रयोग करेंगे और दो-चार दिन के बाद पुनः वापस आ जाएँगे।'

क्षणिक समाधान मत माँगना। त्वरित हल मत माँगना। मत पूछना कि 'फिर जब गुस्सा आए तब क्या करें?' तब कुछ नहीं कर पाओगे, क्योंकि गुस्सा कोई क्षणिक घटना है

ही नहीं। गुस्सा तुम्हें दिखाई तब पड़ा है जब घटा है – हमने जब बहाव की बात की तो हमने दो उदाहरण लिए थे, गुस्से के और प्रेम के – मैं कह रहा हूँ गुस्सा कोई अपनेआप में अलग घटना, आइसोलेटेड इवेंट है ही नहीं। गुस्सा तो फल है उस बहाव में होने का। उस बहाव का नाम ही है क्रोध। जैसा जीवन जी रहे हो, उसमें क्रोध तो रहेगा ही। तो ये मत पूछना कि क्रोध का क्या इलाज है – क्रोध का कोई इलाज नहीं है। जो लोग तुम्हें क्रोध का इलाज देते हैं वो बस ऐसे ही तुम्हें कोई गोली थमा रहे हैं बेहोशी की – 'गुस्सा बहुत आ रहा है, शराब पी लो। गुस्सा बहुत आ रहा है, कोई और नशा कर लो।'

गुस्से का एक ही इलाज है – उस तल पर ही मत रहो जहाँ पर अपूर्णताएँ हैं, जहाँ बेहोशियाँ हैं, जहाँ विकराल कामनाएँ हैं। ये जहाँ है वहाँ फिर क्रोध तो रहेगा ही। बात समझ में आ रही है?

और उस तल से इस तल की छलाँग भी यकायक नहीं लगेगी। जितना अपनेआप को मौका देते जाओगे अपने तल से हट करके कहीं और होने का, उतनी तुम्हारी सामर्थ्य बढ़ती जाएगी और उतना तुम्हारा भरोसा बढ़ता जाएगा। असल में जो कमी है, जो त्रासदी है वो पूरी भरोसे की है, श्रद्धा की है, क्राइसिस ऑफ़ फेथ है। पहले से दूसरे पर आ तो जाओ, पर दूसरे के होने का कुछ भरोसा तो हो। हम तो कहते हैं कि पहला ही सबकुछ है – यह है मेरा संसार, यही है।

दूसरे की एक झलक भी मिलती है न तो भरोसा बढ़ जाता है। दिल तो उस झलक के लिए कब से ही बेक़रार था, दिल तो कहता ही रहता है, 'कुछ गड़बड़ है! कुछ गड़बड़ है!' पर तर्क बात को दबा देते हैं। तर्क कहते हैं, 'क्या गड़बड़ है? और अगर गड़बड़ है तो हल लेकर आ' और हल मिलता नहीं। हल की ज़रा-सी झाँकी भी मिले तो तुम देखना कितनी जल्दी तुम कहने लग जाओगे कि 'ना, अब हमें ये तर्क देना ही नहीं कि दूसरा बहाव कुछ होता ही नहीं। अब हमें यह तर्क देना ही मत कि दोनों बहावों में कोई अंतर होता ही नहीं। हम होकर के आए हैं, हम देखकर आए हैं। हमने पिया है।'

बीच में एक अंतराल आएगा, वो अंतराल जमने का होगा। जब पुराना तो छूटता लगेगा और नया पकड़ में आया नहीं होगा। वहाँ भी रुक मत जाना। वह ना शुभ है ना अशुभ है, वो अनिवार्य है, इनएवीटिबल है। वो आएगा, बस उस पर अटक मत जाना। बीच में एक समय ऐसा आता है जैसे कि दो गियर बदलो, फॉरवर्ड से रिवर्स लगाओ तो बीच में न्यूट्रल आता है न, ना आगे जा सकते हैं, ना पीछे जा सकते हैं। वहाँ रुक भी मत जाना।

प्र: ये बाल्टी में भी होता है। पानी को अगर हम घुमा रहे होते हैं न तो उलटी साइड में जब घुमाते हैं तो थोड़ी देर के लिए पानी एकदम हिलता नहीं है।

आचार्य: और तब ऐसा लगता है जैसे लहरों में आपसी घर्षण हो रहा हो। लहर लहर से टकरा रही है, संघर्ष चल रहा है।

प्र: पहले तल पर तो हम मानसिक स्तर पर चीज़ें चला रहे होते हैं, दूसरे तल पर आ गए तो वहाँ पर भी बोध है।

आचार्य: पहले तल पर बैठकर के दूसरे तल का अनुमान मत लगाइए।

प्र: नहीं, नहीं, अगर दूसरे तल पर हैं तो...

आचार्य: 'अगर' नहीं होता वहाँ पर। या तो है या तो नहीं है। जब तक अगर-मगर चल रहा है तो पहला ही तल है, दूसरा तल श्रद्धा कहलाता है, वहाँ 'अगर' इत्यादि शब्द होते नहीं।

पहले तल पर हैं, और थोड़ा-थोड़ा अपनेआप को मौका देते जाना है उससे ज़रा-ज़रा बाहर होने का। जितना बाहर होते जाएँगे, अंतर की उतनी प्रतीति होती जाएगी। जितना आपको अंतर पता चलता जाएगा, उतना आपके लिए ही मुश्किल होता जाएगा पहले तल पर पुनः लौट-लौट जाना। अभी तो आसान है, यहाँ से उठोगे फिर उन्हीं ढर्रों में चले जाओगे जहाँ से आते हो। और जितना ज़्यादा समय बिताते जाओगे कहीं और, उतना ज़्यादा तुम्हारे ही लिए असंभव होता जाएगा दोबारा अपनी उसी ज़िंदगी में वापस जाना। अच्छा है, बढ़िया तकलीफ़ है। ये तकलीफ़ ही मुक्ति देगी। इस तकलीफ़ से डरकर भाग मत जाना। ये तकलीफ़ कुछ दिनों के लिए जमा देगी। कहोगे, 'ना आगे बढ़ पा रहे हैं, ना पीछे जा पाते हैं।' बहुत लोग उस जमने के क्षण में ही पीछे भाग जाते हैं। ठीक उस समय जब उनके जीवन में कुछ अद्‌भुत घटित होने वाला होता है, माया उनको वापस खींच लेती है। तब भाग मत जाना।

इंसान के छः दुश्मन

आचार्य प्रशांतः बहुत पुराना ग्रंथ है हमारा ‘श्रीमद्भगवद्गीता’, इतना तो हम सब जानते ही हैं। उसमें इंसान के छह शत्रुओं की, छह दुश्मनों की बात करी है श्री कृष्ण ने। ठीक है? उनको नाम दिया है ‘षड-रिपु’, छह दुश्मन। और क्या हैं वो? काम, क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य और लोभ। काम माने इच्छाएँ, क्रोध माने इच्छाओं की पूर्ति ना होने पर उठने वाली उत्तेजित भावना, मद माने नशा, चेतना का अभाव। मोह माने किसी से जुड़ ही जाना। ऐसे जुड़ जाना कि उसके बिना अपने-आप को कमज़ोर समझने लगना, उसपर आश्रित हो जाना। मात्सर्य माने ईर्ष्या, *जेलसी*। और लोभ तो जानते ही हैं हम – लालच, *ग्रीड*।

ये हमें सब-के-सब सताते हैं, सब परेशान करते हैं और ये छह अलग-अलग नहीं हैं। अभी मैं अगर आपसे पूछूँ कि इनमें से कौनसा है जो आपके लिए सबसे ज़्यादा रेलेवॅन्ट , प्रासंगिक है तो शायद अलग-अलग लोग अलग-अलग शब्द पर उँगली रखेंगे। कोई कहेगा, ‘मुझे क्रोध ज़्यादा आता है’। कोई कहेगा, ‘मैं मोह से ज़्यादा ग्रस्त हूँ’। कोई कहेगा, ‘डरा हुआ रहता हूँ’। कोई कहेगा, ‘लालच पकड़ लेता है कभी-कभी’। लेकिन ये छह-के-छह एक संयुक्त परिवार है, ये साथ-साथ ही रहते हैं। ऐसा तो हो सकता है कि इनमें से कोई एक किसी समय पर आपको लगे कि आप पर चढ़ा हुआ है, प्रबल है, लेकिन इसका मतलब ये नहीं हुआ कि बाकी पाँच अनुपस्थित हैं। वो बाकी पाँच भी हैं, वो बस छुपे हुए हैं। बाकी पाँच भी हैं, बस छुपे हुए हैं।

तो हम सबको परेशान करने वाले ये छह दुश्मन, ये षड-रिपु अलग-अलग नहीं हैं; फिर एक ही हैं। एक ही हैं तो इनका कोई संयुक्त नाम भी होना चाहिए, कोई एक साझा नाम भी होना चाहिए। इनका वो साझा नाम है – अहम्, मैं-भावना।

हम जब कहें कि मैं इस चीज़ से परेशान हूँ या उस चीज़ से ग्रस्त हूँ या ये चीज़ मुझे पकड़े हुई है तो उस परेशानी का एक त्वरित इलाज मिल सकता है अगर हम उसी वक़्त पर ज़रा-सा रुक करके, बस पाँच सेकंड रुक करके ये पूछ लें कि ‘कौन परेशान है?’ ये कौन है जो परेशान है? और जो परेशान है उसका क्या छिन जाने वाला है? और जिस चीज़ के लिए परेशान है, मान लो पाने के लिए, अगर उसको पा लिया तो क्या मिल जाने वाला है?

अगर ज़रा-सा ठहर करके बस ये जिज्ञासा कर लें तो बिलकुल ज़ाहिर हो जाएगा कि ये जो छह दुश्मन हैं, ये बाहरी नहीं हैं, ये हमारे भीतर ही हैं, और इन छहों दुश्मनों

का जो एक नाम है, वो है अज्ञान; जिज्ञासा ना करना। जिज्ञासा करने से उत्तर मिलता है न? उसी का नाम 'ज्ञान' है।

अहम् पलता है जिज्ञासा के अभाव में। जिसने पूछा नहीं, जिसने ठहर करके जाँच-पड़ताल नहीं की, उसी के भीतर भ्रम, अँधेरा, अज्ञान घूमता रहता है। जो ज़रा-सा रुक गया और जाँच-पड़ताल कर ली, वो पाता है कि तनाव हो, लालच हो, डर हो – ये तत्काल कम हो गए। मिट नहीं जाएँगे, पर कम तुरंत हो जाएँगे। मिटाने के लिए लंबी साधना करनी पड़ती है। और यही सवाल ना पूछो तो आदमी अपने ही विकारों के हाथों कठपुतली बना रहता है।

और परेशानी का कोई अंत नहीं है, कोई कितना भी परेशान हो सकता है। आदमी ने जैसे-जैसे तरक्क़ी की है, आर्थिक तौर पर, तकनीकी तौर पर, वैज्ञानिक तौर पर, ज्ञान की क्रांति हुई है, सूचना क्रांति हुई है, वैसे-वैसे आदमी का तनाव भी ज़बरदस्त तरीके से बढ़ा है। आम-आदमी को जितना तनाव आज से पचास वर्ष पहले हुआ करता था, उससे कई गुना तनाव आज ज़्यादा है। जनसंख्या का जितना अनुपात आज से पचास वर्ष पहले मनोरोगी था, डिप्रेशन या अवसाद और अन्य मनोरोगों की चपेट में था, उससे कई गुना ज़्यादा अनुपात आज मनोरोगी हो चुका है।

और कारण यही है। कारण है कि हम बाहर इतना ज़्यादा देखने लगे हैं, बाहर चीज़ें इतनी ज़्यादा बढ़ गयीं हैं, बाहर उलझने के तरीके, बाहर उलझने के विषय इतने बढ़ गए हैं कि भीतर जिज्ञासा करने का हमको वक़्त ही नहीं मिलता। हम पाँच सेकंड को भी ये नहीं पूछ पाते, ‘कौन है जो परेशान है? किसने उसे परेशान होना सिखाया?’ हम परेशानी के चक्र में रहते हैं, ये नहीं पूछते कि ‘जिसकी ख़ातिर परेशान हैं वो इतना कीमती हो कैसे गया? और अगर वो इतना कीमती है तो उसे खोकर के मेरा ठीक-ठीक क्या मिट जाना है?’

नहीं हुआ काम, क्या चला जाएगा? और हो भी गया, तो मिल क्या जाएगा?

कुछ तो मिलता होगा, मैं इंकार नहीं कर रहा, कुछ खोता भी होगा – पर जो मिलता है या जो खोता है, क्या वो वाक़ई इतना बड़ा है कि उसकी ख़ातिर आदमी अपना चैन गँवा दे? – ये पूछना ज़रूरी है।

मैं बिलकुल नहीं कह रहा हूँ कि हम पागल हैं, विक्षिप्त हैं और हम बिना बात के परेशान हो रहे हैं; परेशानी का कुछ सबब तो होगा। जो भी कोई व्यक्ति परेशान है, उसके पास कोई-न-कोई सार्थक कारण होगा। लेकिन उस कारण की, उस विषय की कुछ सीमाएँ तो होंगी? हमारी परेशानी कोई सीमाएँ नहीं जानती। (छोटा-सा रिमोट कंट्रोल दिखाते हुए) विषय और कारण हों इतने बड़े और परेशानी होती है इतनी बड़ी (दोनों

हाथ फैलाकर बड़े का इशारा करते हुए) क्योंकि हम जिज्ञासा नहीं करते। हम ठहर करके पूछते नहीं अपने-आप से, अंतर्गमन नहीं करते कि 'बात क्या है?'

अच्छा, यही भीतर से आवाज़ उठ रही है न कि कुछ खोया, कुछ मिटा, कुछ टूटा? चलो, मान लिया कि खो ही गया, मिट गया, टूट गया – जो भी उपक्रम कर रहे हैं, नहीं मिली सफलता – नहीं भी मिली सफलता तो क्या चला जाएगा? चलो, कुछ चला जाएगा, जितना जाएगा उतनी ही चिन्ता करें। अब पता चला कि जाएगा एक यूनिट (इकाई) और उसके लिए चिन्ता कर रहे हो हज़ार यूनिट , तो फिर तो जन्म व्यर्थ गँवाया न?

देखिए, हम किन चीज़ों के खोने की परवाह करते हैं? मान-सम्मान, रिश्ते, पैसा, पूँजी – इन्हीं के खोने की परवाह करते हैं न? जो एक हमारा सबसे कीमती संसाधन है, रिसोर्स है, हम उसके खोने की परवाह कम ही करते हैं, आपको थोड़ा ताज्जुब होगा।

अच्छा, आप बताइए, हमारा सबसे कीमती संसाधन क्या है?

आचार्यः एक जीव का, एक जीवित आदमी का सबसे कीमती संसाधन क्या है?

आचार्यः क्योंकि आप जीवित ही अपने-आपको एक समय तक बोलते हो न? जीवन माने समय-सीमा, उसके बाद तो अपने-आपको आप जीवित भी नहीं बोलते। एक दिन आती है जब मौत, उठा ले जाती है, उसके बाद तो नहीं कहते कि 'मैं जीव हूँ', 'जीवित हूँ', या कहते हो? तो सबसे कीमती संसाधन क्या है? समय।

अब आप जब गणना करते हो लाभ-हानि की, तो उसमें समय को नहीं जोड़ते, जैसे समय की तो कोई कीमत ही ना हो। हज़ार रुपए की कोई चीज़ है, उसके लिए आप चार घंटे से चिन्ता कर रहे हैं। चार घंटे आप सोच रहे हैं, 'हज़ार रुपए! हज़ार रुपए!', उस चार घंटे की कोई कीमत है या नहीं? उसका भी कोई प्रॉफिट-एँड-लॉस (लाभ और हानि) बनेगा या नहीं बनेगा?

आप लोग तो आँकड़ों में सब दक्ष हैं, आपसे पूछ रहा हूँ। गणना करते ही हैं तो पूरी गणना कर लें। आदमी का अगर सबसे कीमती संसाधन समय है तो हम कभी ये क्यों नहीं देखते कि कितना समय चिन्ता में व्यर्थ जा रहा है? समय बर्बाद करने के लिए कोई उल्टा-पुल्टा काम करना ही थोड़े ही ज़रूरी है? बैठे-बैठे भी समय बर्बाद किया जा सकता है न? बैठे-बैठे क्या कर रहा है आदमी? चिन्ता कर रहा है। समय व्यर्थ हुआ कि नहीं?

हमारे कोई हज़ार दो-हज़ार छीन ले, हमें बड़ा बुरा लग जाएगा। और चिन्ता कर-करके हम अपने आठ घंटे ख़राब कर लें, हमें बुरा ही नहीं लगता, बल्कि हमें लगता है कि

हमने कुछ सार्थक काम करा है। और वो आठ घंटे शायद कई लाख की कीमत रखते थे, रखते थे कि नहीं रखते थे? हमारा समय मुफ़्त का है क्या? हमारा समय यूँही है क्या? बताइए। नहीं है न? तो फिर उस समय का भी तो ख़याल करिए।

आत्म-जिज्ञासा के अभाव में आदमी अपना सबसे कीमती संसाधन, अपना जीवन ही खोता चलता है। चिन्ता कर-करके कुछ हासिल भी कर लिया तो ये कभी नहीं समझ पाता कि जो हासिल किया उसकी कीमत क्या, और वह हासिल करने के लिए जो गँवाया, उसकी कीमत क्या!

तो अध्यात्म का मतलब ये नहीं है कि पाओ मत या कमाओ मत; अध्यात्म का मतलब ये है कि अगर हिसाब-किताब लगाते ही हो, गणित और गणना करते ही हो, तो पूरी करो भाई। अध्यात्म माने पूर्णता, तो अध्यात्म में गणना भी पूरी-पूरी होगी – पाया क्या, और लगाया क्या?

और इतना (एक हाथ की उँगलियों से छोटे का इशारा करते हुए) पाने के लिए अगर इतना (दोनों हाथ फैलाकर बड़े का इशारा करते हुए) लगाया तो क्या मैं बुद्धिमान कहलाया? तो अध्यात्म नहीं कहता कि बुद्धू बन जाओ, अनाड़ी हो जाओ, तुम्हें कुछ समझ में ना आए, सड़क के फ़कीर या भिखारी हो जाओ।

अध्यात्म कहता है – बुद्धिमान हो जाओ, और बुद्धि से भी आगे जो है, उसमें जीना सीखो। बुद्धि से आगे है बोध।

बुद्धि तो आधी-अधूरी चीज़ देखती है; बोध पूरी बात देखता है।

बुद्धि बस इतना कहेगी कि ‘फ़लाना काम कर रहा हूँ, इतना रुपया मिल जाएगा।‘ अब रुपया तो गिनने वाली चीज़ है, स्थूल है न! (रुमाल दिखाते हुए) आप इसको देख सकते हो, गिन सकते हो। ये मिला तो आप कहोगे ‘ये मिला’। ये आँखों को दिखाई देता है, हाथ में उठा सकते हो, लेकिन इसकी ख़ातिर गँवाया क्या? वो हम नहीं देख पाते, क्योंकि जो चीज़ गँवायी वो अक्सर सूक्ष्म होती है, सटल होती है, इनविज़िबल (अदृश्य) होती है।

अध्यात्म कहता है – उसको तो गिनो ही जो विज़िबल (प्रकट) है, स्थूल है, उसको भी तो गिनो जो दिखाई नहीं देता, सूक्ष्म है, अदृश्य है। आनंद दिखाई देता है क्या? (रुमाल को ऊपर उठाते हुए) आनंद को ऐसे हाथ में उठा सकते हो क्या? पर आनंद की कोई कीमत है या नहीं है? आप कुछ हज़ार या कुछ लाख पा लें और उसकी ख़ातिर आनंद गँवा दें, तो बताइए ये सौदा मुनाफ़े का हुआ या घाटे का?

कहिए? हमारी ज़िंदगी की बात है।

आचार्यः प्रेम तो सभी करते होंगे; परिवार होगा, माँ-बाप होंगे, पति-पत्नी होंगे, बच्चे होंगे। अपने बच्चे के प्रति जो प्रेम होता है, वो ऐसे (पुनः रुमाल ऊपर उठाते हुए) हाथ में उठाया जा सकता है क्या? आप दिखा सकते हो, 'ये रहा प्रेम'? पाँच-सौ ग्राम प्रेम! दिखा सकते हो क्या? तो अदृश्य है न प्रेम? लेकिन उसकी कोई कीमत है या नहीं? आपको एक लाख रुपया मिल जाए और आपकी ज़िंदगी से प्रेम गायब हो जाए तो ये सौदा लाभ का हुआ या हानि का हुआ?

आचार्यः हानि का हुआ। हमारी बड़ी-से-बड़ी हानि करते हैं ये षड-रिपु। ये हमें जो ग्रॉस (स्थूल) है, जो मोटा-मोटा है, उसको दिखाते रहते हैं और जो छुपा हुआ है, सूक्ष्म है पर बहुत कीमती है, उसको देखने नहीं देते। और आदमी अपनी पूरी ज़िंदगी घाटे में बिताकर एक दिन ख़त्म हो जाता है। वो सोचता भले ही यही रहता कि ये है मेरी ज़िंदगी का गणित – इतना पाया इतना गँवाया, और उसमें नेट (कुल) उसको दिखाई दे रहा है प्रॉफिट (फ़ायदा) ही, कि 'अरे वाह! प्रॉफिट !' पर उसने ये जो खाका खींचा है, उसने ये जो गणित लगाया है, ये ग़लत है क्योंकि इसमें उसने कुछ एँट्रीज़ (प्रविष्टियाँ) करी ही नहीं हैं।

आपके सामने कोई स्टेटमेंट (बयान) आता है, बैंक स्टेटमेंट आ गया जिसमें कुछ एँट्री ही गायब हैं, तो आप बैंक को पकड़ते हो न कि ये क्या गड़बड़ है? बोलो।

इसी तरीके से आप अपनी ज़िंदगी का जब लाभ-हानि का गणित लगाओ, तो उसमें एक-एक एँट्री होनी चाहिए न? स्थूल भी, सूक्ष्म भी; विज़िबल (प्रकट) भी, और इनविज़िबल (अप्रकट) भी तो होनी चाहिए। वो इनविज़िबल वाली हम छुपा जाते हैं! और इनविज़िबल जो एँट्रीज़ हैं, वो सबसे बड़ी हैं, सबसे कीमती हैं। और वो प्रॉफिटेबल (लाभकारी) ही हैं; वो प्रॉफिट हमसे छीन लेते हैं ये सब – भय, मोह, मद, मात्सर्य।

कुछ भी आप कर रहे हो, दिमाग पर ईर्ष्या नाच रही है, आप जो कुछ भी कर रहे हो वो आपसे ठीक से होगा क्या? सही-सही बताइए, होगा?

जो कुछ भी कर रहे हो, तनाव में बैठकर कर रहे हो, वो ठीक से कर पाओगे क्या? अच्छा छोड़ो कि व्यावसायिक काम, दफ़्तर का काम, घर पर किसी से बात भी कर रहे हो और तनाव में कर रहे हो, उस बातचीत में क्या गुणवत्ता बचती है? नहीं बचती न? लेकिन ठीक उस वक़्त कोई बताने नहीं आएगा कि 'तुमको अभी-अभी पाँच हज़ार का नुकसान हो गया!' आपने किसी से बातचीत करी घर में, मान लीजिए अपने पिता से करी, अपनी पत्नी से करी और वो बातचीत सतही थी, उसमें कोई गुणवत्ता, कोई गहराई नहीं थी – ठीक उसी वक़्त कोई खनखनाकर बताता है कि ये जो तुमने पंद्रह मिनट व्यर्थ

कर दिए एक सतही बातचीत में, ये दस हज़ार का घाटा है! कोई बताता है क्या? नहीं बताता न? क्योंकि हर चीज़ रुपयों के आधार पर अभिव्यक्त भी नहीं की जा सकती।

और हम लोग ऐसे हैं जिनको आँकड़े ही समझ में आते हैं। दिक्क़त ये है कि प्रेम हो, आनंद हो, सरलता हो, मुक्ति हो – ये सब आँकड़ों में आसानी से अभिव्यक्त नहीं हो सकते। चूँकि ये आँकड़ों में अभिव्यक्त नहीं हो सकते तो हमको लगता है कि इनकी कोई हस्ती ही नहीं है, इनका अस्तित्व ही नहीं है। हम संख्याओं के पुजारी हैं। हर वह चीज़ जो संख्या में लिखी जा सकती हो वो हमको लगता है असली है और जो चीज़ें संख्या में अभिव्यक्त नहीं हो सकतीं, हमको लगता है उनका कोई मूल्य ही नहीं। तो हम उनको अलग कर देते हैं, हम उनको अपने हानि-लाभ के गणित में शामिल ही नहीं करते। ये तो बड़ी ग़लती हो गयी न?

एक बड़े संत हुए, उनका नाम है ‘पलटू दास’। कम लोगों ने सुना होगा, पर बड़े महिमावान हैं। तो उनका एक वचन है कि,

सतगुरु मेरा बानिया पल-पल करे व्यापार। बिन डंडी बिन ताखड़ी तोल दिय संसार॥

कि वो जो मेरा परमात्मा है, वो वास्तव में एक बनिया है, और वो बड़ा व्यापार करता है। लेकिन बिना किसी तराज़ू के, बिना पलड़ों के, बिना वज़न के, वो पूरे संसार को तोले हुए है।

तो परमात्मा भी उसको कहा गया है जो 'तोलना' जानता है। 'तोलना' माने समझते हैं? कीमत लगाना। आप जब सब्ज़ी खरीदने जाते हो और तोली जाती है, तो वास्तव में क्या किया जा रहा है? उसकी कीमत लगाई जा रही है न कि अगर ढाई किलो है तो इतनी कीमत होगी। तो समझ लो वो परमात्मा हो गया जिसको सही-सही तोलना आ गया, यानि जिसको सही-सही वज़न करना, मूल्य करना आ गया।

हमें अपने-आप से पूछना होगा, ‘हम कितना जानते हैं वज़न करना और मूल्य करना?’

क्रोध से हमें जो हानि होती है, हम कभी उसका मूल्य कर पाए? कितने रुपए की हानि हुई है आज तक क्रोध से, बताइए? किसने करा है मूल्य, बताइए? ये सब जानते होंगे कि घर बनवाया तो उसमें कितने रुपए लग गए, पर ये किसी को नहीं पता होगा कि क्रोध में या कामवासना में कितने का नुकसान कर लिया। है किसी को पता? दुश्मन छुपा हुआ है, भीतर-ही-भीतर नुकसान दे रहा है। हम सोचते हैं कि हम बड़े चतुर हैं, बाहर वाली चीज़ें तो पकड़े हुए हैं न!

बाहर वाली चीज़ें अगर लाख की हैं तो भीतर वाली चीज़ करोड़ की है।

जो बाहर वाली चीज़ों में फँसकर के भीतर वाली चीज़ को भूल गया उसे अच्छा व्यापारी या अच्छा मुनीम, अच्छा अकाउंटेंट , अच्छा अफ़सर, अच्छा प्रबंधक – उसे कुछ भी नहीं 'अच्छा' कहा जा सकता। तो गणित ही ग़लत कर दी न! गणित के सवाल में उत्तर अगर ग़लत आया है तो नंबर नहीं मिलने के। आपने इतनी लंबी उसमें प्रक्रिया दिखाई होगी, एक-के-बाद-एक स्टेप (क्रम) दिखाई होगी कि समीकरण ऐसे हल किया, पर उत्तर ग़लत आया है तो क्या मिलता है? और मिलेगा भी तो कुछ दस में से दो नंबर, तीन नंबर, इससे ज़्यादा थोड़े ही मिलेगा, या मिलेगा?

लेकिन हमारे लिए राहत की बात ये है कि सब कुछ बदला जा सकता है पाँच सेकंड की जिज्ञासा से। ये जो छह दुश्मन हैं, ये जब भी चढ़ें तो क्या करना है? पाँच सेकंड के लिए रुक जाना है। बहुत ज़्यादा नहीं, पाँच सेकंड के लिए। और सवाल बस यही पूछ लेना है – जिसके प्रति काम उठ रहा है, अगर उसको पा लिया तो वास्तव में क्या पाया? और नहीं पाया तो क्या गँवाया?

जिसके प्रति क्रोध उठ रहा है, अगर उसको दबा भी दिया, उसको अगर कुछ हानि पहुँचा भी दी, तो मुझे क्या मिल गया? और नहीं भी हानि पहुँचाई, तो खो क्या दूँगा भाई?

जिसके भी प्रति मात्सर्य अर्थात् ईर्ष्या उठ रही है, उससे आगे भी निकल गए तो किससे आगे निकल गए? वो कोई अपने अगल-बगल का ही तो है, उससे आगे निकल करके पा क्या जाएँगे? जब से इतने से थे, पढ़ने जाते थे, तब से तो ईर्ष्या हमें है। दूसरी कक्षा में पढ़ते थे, तब भी किसी से ईर्ष्या हुई, कि ‘अरे! उसके नंबर ज़्यादा आ गए’; चौथी में थे तो देखा किसी की पेंट (पतलून) हमसे ज़्यादा अच्छी है, उससे ईर्ष्या हो गयी। थोड़े बड़े हुए तो देखा किसी की डिग्री हमसे ज़्यादा अच्छी है, उससे हो गयी। थोड़े और बड़े हुए तो देखा कि किसी की पत्नी ज़्यादा अच्छी है, उससे ईर्ष्या हो गयी। फिर देखते हैं किसी की कमाई ज़्यादा अच्छी है, किसी के लड़के-बच्चे ज़्यादा अच्छे हैं, किसी का घर ज़्यादा बड़ा है, उससे ईर्ष्या।

क्या मिल गया इन चीज़ों से?

ये पाँच सेकंड बड़े काम की चीज़ हैं। ये पाँच सेकंड पूरा जीवन बचा सकते हैं। जीवन अनगिनत सेकंडों का है, पाँच सेकंड के निवेश से अगर वो बचता हो तो क्या बुरी बात?

ये व्यापार कुछ हुआ फ़ायदे का, कि नहीं हुआ?

एक ठसक, एक आग होनी चाहिए

प्रश्नकर्ता: मैं अपने जीवन को देखता हूँ तो मैं दुनिया की चीज़ों से ही घिरा हुआ पाता हूँ अपने-आपको। अगर मैं अपने मन को कभी काम से हटाता हूँ तो उसमें सिर्फ़ दुनिया ही घूम रही होती है; दुःख तो मिलता है उससे, तो व्यवहारिक तौर से इससे फिर निकला कैसे जाए?

आचार्य प्रशांत: ऊँचा माँगो न, ऊँचा।

देखो छोटे-मोटे सुख तो दुनिया में मिलते ही हैं, तभी तो दुनियादारी कायम रहती है। दुनिया से अगर तुम छोटी चीज़ माँगोगे तो दुनिया उसकी आपूर्ति कर देगी। दुनिया कोई बुरी जगह थोड़े ही है; कितने तरीके के सुख हैं दुनिया में, मिलते नहीं देखा लोगों को सुख? वो तो मिलते ही हैं दुनिया में। तो जो छोटी चीज़ माँग रहे हैं, दुनिया उनके लिए पर्याप्त है।

ऋषि होने का मतलब है कि “जो कुछ दुनिया दे सकती है भाई! मुझे उससे कुछ अधिक चाहिए; अपन को ज़्यादा माँगता।“ अगर वो ज़्यादा नहीं माँगता, तो दुनिया ठीक है न? बोलो क्या चाहिए तुम्हें? छोटा-मोटा—एक ठीक-ठाक-सी पत्नी चाहिए, दो गोलू-मोलू बच्चे चाहिए, एक टू-थ्री बीएचके चाहिए, हर चार-छह महीने में एक छुट्टी, वेकेशन चाहिए; ये सब तो दुनिया में ही मिल जाएगा, इसके लिए तुम काहे को अध्यात्म की ओर जाओगे, ज़रूरत क्या है? इसीलिए आम आदमी ठीक ही करता है कि अध्यात्म की ओर नहीं जाता; या जाता भी है तो ऐसे ही मनोरंजन के लिए, कि हर छह महीने में कहीं एक यूट्यूब वीडियो देख लिया, या गए थे ऋषिकेश अध्यात्म के लिए, क्या कर आए? दो महीने का योगा *कोर्स * (पाठ्यक्रम)कर आए; तो ये बस…

दुनिया जो कुछ दे रही है वो कम नहीं होता है, निन्यानबे-प्रतिशत लोगों के लिए उतना काफ़ी है। भाँति-भाँति के रंगीन अनुभव मिलते हैं दुनिया में कि नहीं मिलते? ज़्यादातर लोगों के लिए उतना बहुत है। ऐसों पर कोई ज़बरदस्ती की नहीं जा सकती, यही कह सकते हो कि “काश! तुम्हारा समय जल्दी आए, काश कि तुम्हारा भ्रम जल्दी टूटे, काश कि तुम्हारे भीतर की प्यास जल्दी से जल्दी ज्वाला बन जाए।“

तुम अगर पाते हो—श्लोक कह रहे हैं कि “आत्मा मात्र में सुख है और संसार में बाकी हर जगह दुःख ही दुःख है।" ठीक है? तो तुमको अगर अभी दुनिया में सुख मिल रहा है तो इस बात को अपने ऊपर अपमान की तरह समझो, क्योंकि दुनिया में सुख है तो ज़रूर, पर कैसा है? छोटा-सा। अपमान की बात हो गई ना? जैसे कोई आए जाए बहुत ज़बरदस्त, कि मैं तो सौ की गति से गेंद फेंकने वाला बॉलर (गेंदबाज़) हूँ, और उसको

बोला जाए कि तुम बेबी ओवर कर आओ; ये कितने सम्मान की बात है, कि तुमने उसको बोल दिया कि तुम ओवर करो छोटा-सा?

तो वैसे ही अगर तुम पाओ कि तुम्हें दुनिया में सुख मिल रहा है तो अपने आप को धिक्कार लिया करो, कहा करो "मैं छोटा आदमी होऊँगा ज़रूर, जो इस छोटे से सुख से बिल्कुल लार टपका दी मैंने। कि दुकानदार ने कहा- बीस प्रतिशत डिस्काउंट (छूट), और बिल्कुल वहीं पर मैंने पूरी ज़मीन गीली कर दी।" ये लाज की, धिक्कार की बात है कि तुम्हें एक छोटे-से सुख से ही ख़रीद लिया गया।

आत्मा सिर्फ उनके लिए है—ये बात हम बहुत बार दोहरा चुके लेकिन ज़रूरी है—आत्मा सिर्फ उनके लिए है जिनको बहुत बड़ा वाला चाहिए; और जिन्हें बहुत बड़ा वाला चाहिए वो छोटी चीज़ों पर ध्यान नहीं देते, वो छोटी चीज़ों पर हँसते हैं। और अगर वो छोटी चीज़ों में फँसते हैं तो अपने-आपसे प्रसन्न नहीं रहते, वो सवाल पूछते हैं फिर अपने-आपसे कि "तू इतना गिर गया? तू इतना गिर गया दो सौ रुपये के डिस्काउंट के लिये? इतनी बड़ी चीज़ हो गई तेरे लिए एक शाम की खुशी, एक रात का जोश; इतनी बड़ी चीज़ हो गई? तू कितना छोटा आदमी है, कि एक छोटी-सी चीज़ तुझे ख़रीद ले गई?"

ये पूछना पड़ता है अपने-आपसे, कि, "वो छोटा है मुझे इस बात पर ऐतराज़ नहीं, सवाल मेरा ये है कि मैं कितना छोटा हूँ, कि छोटे से भी छोटा हो गया? हर छोटी चीज़ अगर मेरे लिए बड़ी हो जाए तो मैं कितना छोटा हूँ?" ये सवाल पूछना होता है; आत्मग्लानि ज़रूरी है, लज्जा ज़रूरी है।

आदमी के भीतर अपनी एक ठसक होनी चाहिए।

वैसे तुम भले ही विनम्र रह लो, लेकिन जिस पल कोई तुम्हारे ज़ेहन पर छाने की कोशिश करे, तुम्हें ललचाए-लुभाए, उस पल तो तुम्हारी ठसक को बिल्कुल जागृत हो जाना चाहिए। तुम्हें कहना चाहिए "ओए छोटे! चुनौती दे रहा है? द लिटिल वन हैज़ कम टु चैलेंज? (छोटू चुनौती दे रहा है?) देखते हैं भाई! तूने हमें कितना छोटा समझ लिया कि तूने ऐसा अनुमान, अंदाज लगाया कि हमें जीत लेगा? तो साहब हमारी अब कुछ इस तरीके की गिनती होने लगी है कि ऐसी छोटी-छोटी चीज़ें हमें जीतने के ख़्वाब देखने लगी हैं। बढ़िया बात है! आज़मा लेते हैं आज!"

अहंकार न हो, उससे पहले अहंकार हो तो ऐसा हो। जब ऐसा हो जाता है अहंकार, उसके बाद ही मिटता है अहंकार; मिट सके अहंकार, उससे पहले ऐसा होना चाहिए। अहंकार का भी अपना पूरा जैसे एक जीवन होता है, एक लाइफ साइकल (जीवन-चक्र) होता है। एक होता है गया-गुज़रा, चिंदी-चिंदी, चूरा-चूरा अहंकार। मैं जिसकी बात कर रहा हूँ वो है प्रज्वलित, ठोस, दृढ़ अहंकार; ऐसा अहंकार जो दुनिया की किसी ताकत,

किसी शय, किसी हस्ती के सामने झुकना नहीं चाहता, वो जैसे तलाश कर रहा हो किसी ऐसे की जिसके सामने झुका जा सके; जो कह रहा हो कि “कोई तो ऐसा मिले, इतना बड़ा, जिसके सामने झुकने में हमें गौरव लगे, जिसके सामने हम खुशी-खुशी सर झुका सकें।“ ऐसे को फिर मिलता है वो, जिसको तुम परम-आत्मा कह देते हो; परम माने उच्चतम। उसको परम-आत्मा कहा ही इसीलिए जाता है क्योंकि वो पहला है जिसके सामने तुम प्रसन्नता-पूर्वक समर्पण कर पाओगे।

बाकी तो कोई छोटू आ जाता है तुमसे कहने कि “झुको, चलो समर्पण करो,” तुम कहते हो “अच्छा! अब छोटुओं की भी इतनी मजाल होने लगी? अब तुम जैसे लोग भी हमें ललचाने के लिए पहुँच गए?" इस तरफ़ एक खड़ा हुआ है छोटू, वो तुमको ऐसे नोट की गड्डी दिखा रहा है और कह रहा है “आजा! आज हराऊँगा तुझको।" वामन, छोटा। इस तरफ़ एक खड़ी हुई है छोटी, वो कामिनी बनकर लुभा रही है तुमको, और तुम कह रहे हो, “छोटी घर जा, तू अंडर-एज (नाबालिग़) है, हम तेरे पकड़ में नहीं आने वाले।"

और सब इन छोटुओं को बर्खास्त करने के बाद भीतर तुम पाते हो कि एक कामना बची हुई है, कि, “कोई तो होता, इतना बड़ा, जिसके आगे सर झुकाने में भी हमें फक्र अनुभव होता, गौरव के साथ आत्मसमर्पण कर पाते।“ तब समझना कि तुम्हें अब परमात्मा की तलाश है, क्योंकि वही इतना बड़ा है।

लेकिन उसकी तलाश तो तुम्हें तब हो न, जब तुम बाकी पूरी दुनिया को छोटा मानने लगो। तुम्हें बाकी पूरी दुनिया ही बड़ी लग रही है, तो परमात्मा की काहे को तलाश करोगे? फिर तो तुमको भूमा यहीं मिल गया; भूमा माने बड़ा। फिर तुमको जो बड़ा था वो यहीं मिल गया, जब यहीं मिल गया तो कौन-सा ध्यान चाहिए? फिर कौन-सा अन्तर्गमन चाहिए? फिर कौन-सा अध्यात्म चाहिए?

अध्यात्म तलाश है उसकी जो बड़े-से-बड़ा है; वो बड़े-से-बड़ा अगर तुमको अपने पड़ोस में ही मिल गया तो परमात्मा का क्या करोगे? इसीलिए ज़्यादातर लोगों को परमात्मा, सत्य, आत्मा, ये सब बातें समझ में ही नहीं आतीं। वो कहते हैं, “परम-सुख तो हमको अपने बिस्तर पर ही मिल जाता है, हम तपस्या क्या करेंगे? भई परम-सुख ही तो चाहिए तपस्या करके? वो तो हमको कई बार मसाले-डोसे में ही मिल जाता है। तो जो चीज़ मसाला-डोसा में मिल जा रही है उसके लिए मैं प्रत्याहार क्यों करूँ? जो चीज़ एक बढ़िया कपड़ा ख़रीदकर के मिल जा रही है उसके लिए कौन तितिक्षा का पालन करे?”

और उनकी कठिनाई तुम समझो; उनको अगर नारियल चटनी बढ़िया मिल गई है तो उनका रेशा-रेशा तृप्त हो जाता है, उन्हें उससे ज़्यादा कुछ चाहिए ही नहीं जीवन में।

और इसको वो क्या बोलते हैं? “वी लिव इन द सिंपल प्लेज़र्स ऑफ लाइफ (हम जीवन के सामान्य सुखों में जीते हैं), यही तो अध्यात्म है।"

अध्यात्म ये नहीं है कि नारियल चटनी खाकर के ही अघा गये बिल्कुल, “आहाहा”, और सांभर ही तुम्हारे लिए प्रसाद हो गया।

अध्यात्म ऐसा है जैसे भीतर आग लगी हुई हो।

एक प्रज्वलित चेतना है अध्यात्म, जो इतनी ज़ोर से जल रही है क्योंकि उसे प्रकाश चाहिए; प्रकाश उसे बाहर से कहीं मिल नहीं रहा तो वो कह रही है, “खुद को ही जलाऊँगी रोशनी के लिए।" रोशनी उसे पूरी मिल जाती है, लेकिन खुद को जला के, खुद को मिटा के।

तुम्हें बहुत-बहुत रोशनी चाहिए और बाहर से मिल नहीं रही, दुनिया उतनी रोशनी देने में सक्षम नहीं है, तो तुम्हारी चेतना कहती है, “खुद को ही जलाएँगे, आत्मदाह करेंगे, *सेल्फ इम्मोलेशन*।" उस आत्मदाह से जो रोशनी निकलती है, उसमें चेतना कहती है, “वाह...!” जैसे मरते हुए आदमी की आखिरी साँस कह रही हो, “वाह…! यही रोशनी तो चाहिए थी।“ लेकिन वो रोशनी तो खुद को जला के ही मिलनी है; ऐसों के लिए है अध्यात्म, मसाला डोसा में हैप्पी (खुश) हो जाने वालों के लिए नहीं है।

तुम चित्रित तो करो उनको, जो सालों-सालों नदी किनारे बैठे रहते होंगे; कैसे ज़िद्दी लोग होते होंगे? और कैसे व्याकुल और कैसे आतुर लोग होते होंगे? तुम्हें क्या लग रहा है ये संतोषी लोग थे? ये तुम्हें संतोषी आदमी का काम लग रहा है कि कोई ऐसी चीज़ पाने के लिए वो चला गया है, कहीं जंगल और नदी किनारे बैठा हुआ है? जहाँ पर जंगली जानवर भी हैं, खाने-पीने का कोई ठिकाना नहीं, रहने का कोई बसेरा नहीं, कुछ पता ही नहीं कि यहाँ ज़िंदगी क्या होगी, क्या नहीं होगी। और जो पाना चाहता है वो भी चीज़ कैसी है? अभौतिक, पराभौतिक। ऐसा नहीं है कि उसको दो दर्जन केले चाहिए या एक नया घर चाहिए; वो माँग क्या रहा है? वो कह रहा है, “परमात्मा चाहिए,” और उस परमात्मा को पाने के लिए, जिसका न नाम न ठिकाना, न चित्र, न रुप, न गंध, न आकार, उस परमात्मा को पाने के लिए वो दुनिया की सारी तकलीफ़ें झेल रहा है; ऐसा चित्त, ऐसी जलती हुई चेतना चाहिए, ऐसा ज़िद्दी मन चाहिए, धृति चाहिए ऐसी।

और दुनिया तो उसे अभी भी बुला रही है- “आ जाओ! आ जाओ!” युवा सन्यासी है; रुपया, पैसा, दुनिया के तुम्हारे सब राग-रंग, परिवार छोड़कर गया है। दुनिया बुला रही है, “आ जाओ,” और दुनिया समझ ही नहीं पा रही ये पाना चाहता क्या है। और वो लगा हुआ है, लगा हुआ है, दसियों सालों तक लगा हुआ है। किस चीज़ को पाने के लिये

लगा हुआ है? कोई समझ नहीं पाया; ऐसा चित्त चाहिए, और ऐसे ही फिर ज़िंदगी को पूरा जीते हैं।

यही वो हैं, समझ लो, अकेले, जो जी पाए, जो वास्तव में पैदा हुए; बाकी तो ऐसे, जो समझ लो पैदा ही नहीं हुए, वो मरे-जैसे ही रहे जीवन भर।

एक पागलपन, जैसे एक सनक हो; वो पागलपन नहीं है अगर जीवन में तो तुम बहुत मुर्दा आदमी हो।

एक सुव्यवस्थित, समायोजित, संतुलित जीवन अगर तुम्हारा चल रहा है, तो चल ही क्यों रहा है? कहे "बिल्कुल एकदम बढ़िया आदमी है, रोज रात में सो जाते हैं दस बजे और सुबह ठीक पाँच बजे इनकी आँख खुल जाती है।" करोगे क्या दस बजे सोकर और पाँच बजे आँख खोलकर? एक दिन तो ऐसा आएगा जब आँख खुलनी ही नहीं है, तब बता देना भैंसे वाले को कि "हमने तो रोज सुबह पाँच बजे खोली थी।" वो कहेगा, "कोई बात नहीं जिन्होंने छह बजे खोली, आठ बजे खोली, बारह बजे खोली, उनकी भी अब कभी नहीं खुलेगी, ठीक वैसे जैसे तेरी कभी नहीं खुलेगी रोज सुबह पाँच बजे खोलने वाले।"

जीवन ऐसा चाहिए जो रातों की नींद उड़ा दे।

ये नहीं कि "दस बजे नहीं कि हमें तो नींद आ ही जाती है, बिस्तर पकड़ लेते हैं, और इस बात का बड़ा गौरव भी है।"

साधु, फ़कीर विख्यात हैं, कि जब पूरी दुनिया सो जाती है तो वो जगते हैं, टुकुर-टुकुर दुनिया को निहारते हैं, कुछ चुपचाप गाते हैं; ये तो बहुत बेहोश लोगों का काम है कि सो गए। क्यों सो गए, सो भी इसलिए नहीं गए कि दस बजे में कुछ खास है, इसलिए क्योंकि सुबह आठ बजे फिर से रोटी-पानी का जुगाड़ करने निकलना है; नौ बजे नहीं पहुँचे तो बॉस बहुत जुतिआएगा, इसलिए रात में जल्दी सो जाते हैं। और इस बात को फिर बहुत गौरव से बताते हैं, कि, "देखिए मैं तो बहुत अनुशासित आदमी हूँ।"

मुझे रात को जल्दी सो जाने वालों से कोई आपत्ति नहीं है, पर मैं उदाहरण की तरह इशारा किधर को कर रहा हूँ ये समझो!

आध्यात्मिक मन कोई बहुत एडजस्टेड (समायोजित) मन नहीं होता है, वो मेल नहीं बैठा पाया होता है; वो बेमेल होता है, मिसफिट (अनुपयुक्त) होता है।

जैसे तुम्हारे फिल्मी गानों में कहते हैं न, "एक में भी तनहा थे हम, सौ में भी अकेले, आईने के सौ टुकडे करके हमने देखे।" कुछ-कुछ ऐसा समझो। सौ टुकड़े आईने के, जिसमें

संसार के सौ रूप प्रतिबिंबित हो रहे हैं, और हर रूप में एक चीज़ साझी है- अकेलापन।

प्र: आपसे सुनकर और ग्रंथों को पढ़कर मुझे भी लगता है कि दुनिया के सुखों में कहीं-न-कहीं एक झूठ छुपा हुआ है, और यही कारण भी रहा है मेरा आध्यात्मिकता के पथ पर आने का। परन्तु मेरे अंदर इस दुनिया के लिए चाहतें भी बची हुई हैं। पहले मैं मन बहलाने के लिए कभी कुछ स्वादिष्ट खा लेता था, कहीं घूम आता था, पर अब मुझे ये सब भी बेकार लगते हैं। आपने कहा कि मुक्ति के लिए एक आग चाहिए, एक लपट चाहिए। मेरे अंदर एक आग तो है, पर वो उतनी प्रज्वलित नहीं लगती कि लपट बन जाए। आचार्य जी, मैं बीच में फँस तो नहीं जाऊँगा?

आचार्य: फँस भी सकते हो, निकल भी सकते हो; सब तुम्हारे ऊपर है, तुम्हारे चुनाव की बात है।

भीतर अगर लपट ऐसी ही है, कमज़ोर-सी, तो दो चीज़ें तुम्हें चाहिए: समय और संगति। गीली हो लकड़ी, और उसमें से बहुत कमज़ोर-सी लपट उठ रही हो, तो एक अच्छी संभावना ये हो सकती है कि धीरे-धीरे, धीरे-धीरे उस कमज़ोर-सी लपट के कारण ही लकड़ी सूख जाए; और लकड़ी जब सूख जाएगी तो वो लपट बढ़ जाएगी। और दूसरी चीज़ ये हो सकती है कि किसी तरीके से संगति मिल जाए दूसरी ज्वालाओं की, उनकी संगति में ये जो गीली लकड़ी है ये ज़्यादा तेजी से सूखेगी; तो समय चाहिए।

कमज़ोर लपट के लिए दम तोड़ना बहुत आसान होता है। टिके रहना भी अपने आप में यहाँ पर बड़ी बात हो जाती है, कि टिके रहो धीरे-धीरे लकड़ी सूख रही है; लपट अपने आप उग्र होती जाएगी। और दूसरी बात संगति सही करो; तुम्हें बनना है लपट और जाकर संगति कर आए कीचड़ की। लकड़ी तुम्हारी पहले ही गीली थी, उसको कीचड़ में और डुबो लाए और फिर कह रहे हो कि "मुझे भभक के जलना है, मेरी ज्वाला क्यों नहीं उग्र हो रही?" तो ये तुम नाजायज़ माँग कर रहे हो फिर।

आत्म-साक्षात्कार का झूठ

आचार्य प्रशांत: जब हम रत्न की बात कर रहे होते हैं और उसकी सफ़ाई करनी है क्योंकि वो मिट्टी में पड़ा था, मैला हो गया है, कीचड़ जम गया है, तो हम कीचड़ की बात ऐसे करते हैं जैसे कि वो कोई बात करने लायक चीज़ ही नहीं है, “उसको तो जल्दी से हटाओ, फिर देखो कैसे रत्न जगमगाएगा।“ ठीक है न? बात का लहज़ा हमारा कुछ ऐसा रहता है। उस पूरी बात में ध्यान कीचड़ पर बहुत ही कम दिया जाता है, सारा ध्यान किस पर दिया जाता है? रत्न पर दिया जाता है। कीचड़ को तो यूँ ही दो-कौड़ी की अनावश्यक चीज़ मान लिया, कि, “ये ज़बरदस्ती आकर के इसके ऊपर बैठ गई थी, हट गई, रत्न जगमगाने लग गया।“

इस प्रकार की उपमा से प्रभावित होकर बहुत लोगों में छवि ये बैठ गई है कि, “भीतर कोई रत्न बैठा हुआ है, वो रत्न ही आत्मा है और वही असली चीज़ है; उसी की चर्चा करनी है, वही समस्त अध्यात्म की विषयवस्तु है, सब श्लोक उसी का प्रतिपादन करते हैं। और जो बाकी बाहर की हमारी परतें हैं, माने मन और शरीर, वो तो कीचड़ हैं, उनकी चर्चा क्या करनी!”

भई! जब आपने रत्न का उदाहरण लिया तो उसमें आपने कीचड़ की कितनी बात करी? बस यही कहा कि, “कीचड़ तो वो चीज़ है जिसको जल्दी से झाड़ देना है, उसकी उपेक्षा कर देनी है, हट गया।“ उसके बाद आप रत्न हाथ में लेकर आनंदित हो रहे हैं, कि, “आहाहाहा! क्या जगमग-जगमग!” तो वैसा ही जब आप एक आदर्श या नमूना अपने ऊपर लगा लेते हैं तो आप रत्न किसको बना देते हैं? भीतर की किसी आत्मा को, और कीचड़ की परतें क्या हो गईं? मन और शरीर। तो अब आप सारी बात किसकी करते हैं? आत्मा की, क्योंकि आत्मा रत्न है; और मन और शरीर की आप बात ही नहीं करते, क्योंकि, “ये कोई बात करने की चीज़ है? फूँक मारकर उड़ाने वाली चीज़ है। गंदी चीज़ें हैं, इन पर क्या ध्यान देना! क्या मन खराब करना इनकी चर्चा करके!"

नहीं, उल्टा है। यहाँ तक ठीक है कि आत्मा के ऊपर मन और शरीर की परतें चढ़ी हुई हैं, लेकिन आत्म-साक्षात्कार का अर्थ आत्मा या हीरे का साक्षात्कार नहीं है भाई! आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है: मन और शरीर का साक्षात्कार। ये भेद स्पष्ट होना बहुत ज़रूरी है। जब आप उदाहरण ले रहे थे हीरे का, तो उसमें आपको किसका साक्षात्कार करना है? हीरे का। वो बात उदाहरण तक ठीक है, क्योंकि हीरा अधिक-से-अधिक क्या है? पदार्थ ही तो है, उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। उदाहरण में आपने जिस वस्तु का इस्तेमाल करा है, वो एक पदार्थ है, भले ही बड़ा मूल्यवान पदार्थ हो; हीरा है, उसका साक्षात्कार किया जा सकता है, जैसे हर पदार्थ का।

आत्मा थोड़े-ही पदार्थ है, उसका साक्षात्कार कैसे कर लोगे? साक्षात्कार फिर किसका करना होता है? साक्षात्कार करना होता है माया का, मन का। आत्म-साक्षात्कार का मतलब ये नहीं होता कि तुम अपने भीतर देखोगे और जगमग-जगमग आत्मा को पाओगे; और बहुत ध्यानी लोग इस तरह का अनुभव बताते हैं, खुद को ही धोखा देते हैं। इस तरह का आडंबर और आत्म-प्रवंचना अध्यात्म में बहुत प्रचलित है, कि, “हम तो आत्म-साक्षात्कार करते हैं और भीतर से हमारे प्रकाश की किरणें उठती हैं।“ बल्कि कई तो आध्यात्मिक धाराएँ हैं, संगठन हैं जो बाक़ायदा चित्र ऐसे बनाते हैं कि एक व्यक्ति है जो किसी योग-मुद्रा में बैठा हुआ है और उसके भीतर से प्रकाश की किरणें विकीर्ण हो रही हैं, और तत्काल आपको लगता है कि, “ज़रूर हीरे-जैसी कोई आत्मा यहाँ हृदय के आसपास कहीं स्थित है, और देखो उससे चारों तरफ़ प्रकाश विकीर्ण हो रहा है।“ नहीं, ऐसा कुछ नहीं है।

देखा है कि नहीं देखा है? वो ध्यानी बैठा हुआ है ऐसे, आसन मारकर और आँखें बंद करके, और आँखें बंद कर रखी हुई हैं और भीतर से प्रकाश उठ रहा है। और जहाँ वो चित्र देखा नहीं, कि बहुत सारे ध्यानियों को प्रकाश उठने ही लग जाता है, वो कहते हैं, “हमें भी हुआ, एकदम सतरंगी था।" नहीं, खुद को देखने पर कभी आपको कोई हीरा, कोई रतन दिखाई देने से रहा। जिनको खुद को देखने पर हीरे और रतन दिखाई देते हैं उनकी तो साधना की अभी शुरुआत ही नहीं हुई, वो तो अभी बच्चों के खेल खेल रहे हैं।

खुद को देखने का मतलब है: अपने विकृत और कुत्सित रूप को देखना, अपनी वृत्तियों को देखना, अपने आंतरिक छल-कपट को देखना। और क्या है देखने के लिए? खुद को देखने का आप कौन-सा दिव्य अर्थ निकालकर बैठे हुए हैं? और बड़े रूमानी तरीके से बात की जाती है, जब भी खुद को देखने का कोई प्रसंग आता है तो ऐसे ही बात की जाती है कि, “मैं जा रहा था, ऐसा हुआ, वैसा हुआ, और फिर, मैंने खुद से खुद को देखा।" जैसे न जाने किसको देख लिया हो, कौन-सी बड़ी सुंदर चीज़ देखने को मिल गई।

तुम हो क्या खुद? खुद माने मल-मूत्र तो हो, और क्या हो? टट्टी देखकर शायरी आ जाती है तुम्हें? तो फिर इसमें इतना ज़्यादा कवि-भाव कैसे उठ आया, कि, “मैंने खुद को देखा और आहाहाहाहा! क्या बात थी!” जो कोई खुद को देखेगा वो भौंचक्का रह जाएगा, क्योंकि अपनी कारगुज़ारियों से, अपने भीतर के दानव से तो तुम खुद भी पूरी तरह परिचित नहीं हो भाई! जो देखेगा खुद को, वो हैरान रह जाएगा, उसको समझ में नहीं आएगा कि ये दिख क्या गया है, ये क्या बैठा है मेरे भीतर?

तुम्हें क्या लग रहा है तुम्हारे भीतर कोई अति-सुंदर, और प्रकाशित, और दिव्य, और शीतल और आनंदप्रद सत्ता बैठी हुई है? हाँ, आप ऐसा मानना चाहेंगे, क्योंकि ऐसा मानना अहंकार को बहुत अच्छा लगता है। भीतर बैठा हुआ अहंकार है, समझो पूरा

गणित। भीतर कौन बैठा है? अहंकार, और आप जब कह रहे हो, "जो मेरे भीतर बैठा है—आहाहाहा! मैंने आँख बंद करी और आत्म-साक्षात्कार किया, और जो भीतर बैठा है वो कितना सुंदर था! कितना पवित्र और क्या पावन था!" तो वास्तव में आप सुंदर और पावन किसको बोल रहे हो? अहंकार को बोल रहे हो, क्योंकि भीतर तो वही बैठा है। अहंकार खुश हो रहा है, कह रहा है, "बिल्कुल! आत्म-साक्षात्कार बहुत अच्छी बात होती है, और करो, सबको कराओ।"

> जो सही में खुद को देखते हैं उन्हें वितृष्णा हो जाती है, घिना उठते हैं; इसीलिए तो सचमुच खुद को देखने वालों की तादाद इतनी न्यून है।

कौन देखे अपने-आपको, अपने झूठे चेहरों और नकाब के बिना? बाहर-बाहर आपको आदमी की जितनी विकृतियाँ और कुरूपताएँ दिखाई देती हैं वो तो फिर भी नैतिक मापदंडों के कारण बहुत दबी हुई और छुपी हुई अभिव्यक्तियाँ हैं; भीतर जो बैठा है वो बाहर तो पूरी तरह अभिव्यक्त होने भी नहीं पाता, क्योंकि बाहर सामाजिक वर्जनाएँ हैं, नैतिक कायदे हैं। आपको पूरी छूट मिल जाए, बाहर किसी किस्म के दंड का या वर्जना का भय न रहे, फिर देखिए अपना पाशविक रूप, फिर देखिए कि भीतर किस-किस तरह के जानवर बैठे हुए हैं, क्या-क्या निकलेगा भीतर से।

> वो सब कुछ जो गड़ा बैठा है भीतर, और बाहर निकलने की राह खोज रहा है उसको देख लेना बिना बेहोश हुए, बिना वमन किए, बिना भय के मारे कदम पलटे; ये कहलाता है आत्म-साक्षात्कार।

जब तुम्हें दिखाई दे कि कितने घटिया आदमी हो तुम, तब समझना कि आज कोई आध्यात्मिक घटना घटी है तुम्हारे साथ; और तुमको पता चले कि, "आहाहा! मैं तो प्रेम का पंखी हूँ, इशक का जुगनू हूँ," और इस तरह की तुम्हारी धारणा बने अपने बारे में, तो समझ लेना अभी तुम्हारी टुन्न वाली शायरी ही चल रही है, अभी सत्य से बहुत दूर हो तुम, तुम शायरी करलो पहले।

आत्म-साक्षात्कार का; ये मैं बात दर्जनों बार पहले बोल चुका हूँ, आज फिर ज़ोर देकर बोल रहा हूँ, क्योंकि कितना भी मैंने बोला होगा, समझ में तो किसी को आ नहीं रही। आत्म-साक्षात्कार का ये अर्थ बिल्कुल नहीं है कि आप खड़े हो गए—आप कौन हैं? अहंकार—और आपके सामने खड़ी हो गई हीरे-जैसी जगमग-जगमग आत्मा, और आप उसको देख रहे हैं और आप कह रहे हैं, "वो मैं हूँ।" अगर वो आप हैं तो इधर जो खड़ा होकर देख रहा है वो कौन है? कितनी विचित्र बात है, पर आत्म-साक्षात्कार का आपका जो मानसिक मॉडल (प्रतिरूप) है वो कुछ ऐसा ही है कि, "मैंने खुद को देखा। ये मैं हूँ और मैं खुद को देख रहा हूँ, वहाँ मैं खड़ा हुआ हूँ और मैं बिल्कुल ऐसे जैसे दिवाली में घर हो

जाता है, एकदम जगमगा रहा हूँ; चीनी झालर लटकी हुई है मेरे ऊपर से लेकर नीचे तक।"

अगर वो तुम हो तो जो देख रहा है वो कौन है? आत्मा का साक्षात्कार अगर तुम कर रहे हो तो साक्षात्कार करने वाला कौन है? ये सब सवाल हम नहीं पूछते, क्योंकि बड़ी असुविधा रहती है। "सवाल ऐसे पूछने ही नहीं चाहिए, ये आचार्य जी फँसाते रहते हैं, गड़बड़ सवाल पूछ देते हैं। सारा मामला सुलट गया होता है, ये आकर के बाल की खाल निकाल देते हैं। तभी तो हम इनको पसंद नहीं करते। हमें जब बिल्कुल पक्का भरोसा बैठ जाता है कि हम ही हैं वो झिलमिल-झिलमिल आत्मा जो मधुर गीत गा रही है: झिलमिल सितारों का आँगन होगा, रिमझिम बरसता सावन होगा, तभी ये बीच में आकर खड़े हो जाते हैं, सब बादल-वादल छँटा देते हैं और कोई कड़वी बात बोलकर के मज़ा ही किरकिरा कर देते हैं।"

ध्यानियों को, योगियों को और खासतौर पर ऐसे लोगों को जिनका आत्म-साक्षात्कार हो चुका है, उनको तो मुझसे ज़बरदस्त दिक्कत है, वो कहते हैं, "ये नमूना! इसका खुद तो हुआ नहीं है, ये खुद ही बोलता है। जब इसका खुद हुआ नहीं है तो कम-से-कम जो हमारा हो चुका है उस पर तो ये कीचड़ न उछाले।" मैं क्या करूँ, मेरा तो काम ही यही है।

तो आत्म-साक्षात्कार में कभी आपको कुछ बहुत अच्छा-सा देखने को मिल जाए, कि आपने आँख बंद करी और आपने देखा कि भीतर आप ही ब्रह्मा बनकर बैठे हुए हैं, तो समझ लीजिएगा कि ये बचपन की किसी फैंसी-ड्रेस कंपटीशन का कोई दृश्य अभी बसा हुआ है आपके दिमाग में। वो भी घटिया तरीके की फैंसी-ड्रेस ; ब्रह्मा बने हैं। यहाँ लगाए हैं एक मुँह, दो मुँह, तीन मुँह, और एकाध गिरने को तैयार है, मंच पर ही गिर गया। बात बहुत महीन है; जिस चीज़ को गौर से देख लिया, हटकर देख लिया, एक हाथ की दूरी बनाकर देख लिया, उससे मुक्ति तत्काल हो गई; इसका मतलब ये नहीं है कि दोबारा बंधन नहीं आ सकता, दोबारा बंधन आ सकता है, पर उस वक्त की मुक्ति पूर्ण है।

उससे ज़्यादा मुक्त कोई नहीं जिसे साफ़-साफ़ दिख रहा है, तत्क्षण दिख रहा है, बंधन के पल में दिख रहा है, कि वो कितना ज़्यादा बेड़ियों की गिरफ़्त में है; बाद में नहीं, अभी। कुछ करते ही, कुछ सोचते ही, बल्कि कुछ करने से भी आधा क्षण पहले, कुछ सोचने से भी आधा क्षण पहले; कि विचार आने ही वाला है उससे पहले ही तुम्हें दिख जाए कि विचार कहाँ से आ रहा है, कि कर्म तुम करने ही वाले हो उससे ठीक ज़रा-सा पहले तुम्हें दिख जाए कि तुम कहाँ से करने वाले हो, कौन करवा रहा है तुमसे, कर्ता कौन है, कर्ता का स्वामी कौन है; मुक्त हो गए तुम, यही तो मुक्ति है।

तुम कर जाते, तुम करने से बच गए। तुम बोल जाते, तुम सोच जाते, तुम बदल जाते, तुम वही हो जाते जो तुम्हारे भीतर बैठा अहंकार तुम्हें कर देना चाहता था; तुम बच गए क्योंकि तुमने देख लिया। जैसे पटरी पर खड़े हो तुम, और ट्रेन चढ़ी आ रही है, चढ़ी आ रही है, और चढ़ जाए तुम पर उससे आधा पल पहले तुमने देख लिया। बच गए न? जिसने देख लिया वो बच गया; जिसने नहीं देखा वो पच गया। बचते हो या पचते हो ये इसी पर निर्भर करता है कि आधा क्षण पहले भी ट्रेन को देख लिया कि नहीं देख लिया; पटरी से हटना कोई समय थोड़े ही लेता है, या लगता है? एक झटके में फाँद जाओगे, बस दिखनी चाहिए कि आ रही है।

इसी तरीके से श्रवण होता है। जब तुम कहते हो, “आत्म-साक्षात्कार किया,” या “आत्म-दर्शन किया,” तो उसका मतलब ये नहीं है कि आत्मा को देख लिया, उसका मतलब ये है कि ट्रेन को देख लिया। ट्रेन क्या है? माया। इसी तरीके से श्रवण होता है। दर्शन माने ट्रेन को देख लिया; श्रवण माने भी ये नहीं कि भीतर से आत्मा की आवाज़ उठ रही थी वो सुन ली, श्रवण माने ट्रेन की सीटी सुन ली। ट्रेन को देखलो तो भी फाँद जाओगे, और आधा क्षण पहले ही कान में इंजन की सीटी पड़ गई तो भी बच जाओगे।

तो दर्शन और श्रवण दोनों का मतलब समझ लो। ईश्वर का दर्शन कुछ नहीं होता, माया है जो दिखाई देती है और देख लेनी चाहिए। इसी तरीके से कोई आसमानों की आवाज़ नहीं है, कोई आकाशवाणी नहीं होने वाली जो तुम्हें सुनाई पड़ेगी; तुम्हें तो बस ये सुनाई पड़ जाना चाहिए कि गुरु चेता रहा है। इंजन की सीटी किसलिए होती है? चेताने के लिए। तो श्रवण इसी बात का करना होता है। गुरु की आवाज़ इंजन की सीटी जैसी है, कि, “बेटा! अभी तुम कचरे जाने वाले हो;" ऐसा थोड़े ही है कि और कोई बहुत दिव्य बात है। ये उपनिषद् पूरा क्या है? ये सीटी ही तो है; सीटी है। माया का बस चले तो इंजन ही इंजन हो उसमें, सीटी न हो।

गुरु कौन है? जो माया के माथे पर बैठ गया है सीटी बनकर, कि, “तू जा रही है उसको कचरने, जब तक तू उस तक पहुँचेगी उससे पहले ही मैं बज जाऊँगा, कि उस तक आवाज़ पहुँच जाए।“ क्यों? क्योंकि ध्वनि की आवाज़ इंजन की आवाज़ से ज़्यादा तेज़ी से चलती है; ध्वनि की गति इंजन की गति से ज़्यादा है। तो माया पहुँचेगी उससे पहले गुरु पहुँच जाएगा आवाज़ मारकर। माया को तो पूरा इंजन लेकर जाना पड़ेगा, गुरु इंजन पर ही चढ़कर बैठ गया है; माया पर ही। और वो वहीं से आवाज़ मार देता है, “आ रही है! आ रही है!" अब तुम न सुनो तो तुम्हारी मर्ज़ी। ये श्रवण है।

श्रवण में इस चक्कर में मत रहना कि गुरुदेव तुमको बहुत मीठी-मीठी और ऊपरी बातें बताएँगे, कि, “आहाहाहाहाहा! आकाश लोक है, और वहाँ तुम्हें पहुँचना है, और वहीं पर तुम्हारी असली आत्मा है, और तुममें और आकाश लोक में जो संपर्क सूत्र है वो

तुम्हारी मुंडी से निकलता है, और ऐसे यहाँ (अपने सर की ओर इशारा करते हुए) हाथ फेरो तो तुम्हें गड्ढा-सा दिखाई देगा, बिल्कुल कमल की नाल है।" गुरुदेव ये सब बता रहे हैं तो जान लेना कि अभी तो इनके मुँह से माया ही बोल रही है।

आत्मा का इस लोक में, समय में और स्थान में अस्तित्व नहीं होता; हम माने पड़े हैं कि होता है। यही समझाने के लिए तो बुद्ध को बार-बार बोलना पड़ा था, “अनस्तित्व! अनस्तित्व! अनात्मा! अनात्मा! अनत्ता! अनत्ता!” हम जिन चीज़ों को बोलते हैं कि ‘हैं', उन चीज़ों के अर्थ में आत्मा नहीं है बाबा! ये कलम है (कलम उठाते हुए)। ये कलम है क्योंकि इसका आकार है, इसका वज़न है, स्थान में इसका अस्तित्व है, इस समय में इसकी मौजूदगी है; जिस अर्थ में ये कलम अस्तित्ववान है, उस अर्थ में आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है।

तो अस्तित्व फिर किसका है बाबा! माया का। माने जब भी तुम देखोगे तो किसको देखोगे? माया को, क्योंकि वही तो अस्तित्वमान है; आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं होता। आप कहेंगे, “ये क्या बात है? हमें तो बताया गया है कि आत्मा-मात्र का अस्तित्व है, सिर्फ़ और सिर्फ़ आत्मा का अस्तित्व है; अंदर भी आत्मा है, बाहर भी आत्मा है।“ वो बातें हटाओ न! उनको समझना हो तो अलग से आना, कि अंदर भी आत्मा है और बाहर भी आत्मा है इसका मतलब क्या है?

आत्मा का जब भी उल्लेख हुआ है, वर्णन हुआ है, अधिकांशतः नकार की भाषा में हुआ है। लेकिन तुम नकार की भाषा की जगह विधायक, सकार की भाषा का उपयोग करना चाहते हो। तुम नकारने में यकीन नहीं रखते, क्योंकि डर लगता है कुछ छूट जाएगा, कुछ कट जाएगा। तो तुम सकारात्मक भाषा का इस्तेमाल करना चाहते हो, तो तुम कहना चाहते हो, “वहाँ भी आत्मा, यहाँ भी आत्मा, इसकी आत्मा, उसकी आत्मा, इधर-उधर, दाएँ -बाएँ, ऊपर-नीचे; सर्वत्र आत्मा-ही-आत्मा।”

ये सब बाद में कहना, इससे पहले ये कहो कि समय और स्थान ये दोनों आत्मा से उद्‌भूत हैं; ये आत्मा में हैं, आत्मा इनमें नहीं है। कुछ याद आया? श्रीमद्भगवद्गीता! “हे अर्जुन! ये सब दिशाएँ, ये सब भूत, प्रकृति के ये सारे गुण, ये मुझसे हैं और ये मुझमें हैं; लेकिन अर्जुन, मैं इनमें किसी में भी नहीं हूँ।"

> आत्मा से है सब विस्तार और सारा समय; वो आत्मा से है और वो आत्मा में है, पर आत्मा उसमें नहीं है।

ये खम्भा आत्मा में है पर इस खम्भे के अंदर आत्मा नहीं है; और ये बहुत सूक्ष्म अंतर है, जिसको ये नहीं समझ में आया उसकी यात्रा आगे बढ़ेगी ही नहीं। समझ में आ

रही है बात? तो जिस अर्थ में ये कलम हमें अस्तित्वमान लगती है, आत्मा अस्तित्वमान नहीं है। समझे?

बुद्ध जैसा ही कोई तत्वदर्शी होता है जो इस राज़ को समझता है। मेरी दृष्टि में बुद्ध से बड़ा वेदांती ढूँढना मुश्किल है। हम कहते यही हैं कि बुद्ध ने तो बहुत मायनों में वेदों का खंडन किया; बात उल्टी है, बुद्ध वेदों को जितना समझे, उतना और समझने वाला दूसरा नहीं था। और बिल्कुल सही बात कह रहे थे वो, वेदांत-सम्मत बात कह रहे थे वो। लोगों ने आत्मा को नदी-पहाड़ बना रखा था, लोगों ने आत्मा को भी इधर-उधर की चीज़ बना रखा था, कि, “वो भी तो कोई चीज़ ही है,” या, “मन का कोई विषय ही है आत्मा।“ बुद्ध को फिर कहना पड़ा, “न बाबा! जो तुम सोच रहे हो, वो वो नहीं है।" तो उनकी पूरी भाषा ही फिर नकार की रही, काटने की रही; वो बोलते थे, “मुझे सत्य से मतलब नहीं, मुझे तो असत्य हटाना है। चिकित्सक हूँ मैं; स्वास्थ्य क्या होता है स्वास्थ्य जाने, मेरा काम तो बीमारी हटाना है।" बीमारी माने यही सब जो हमारी उल्टी-पुल्टी धारणाएँ ।

तो अब समझो कि शोक-आदि दूर करने का क्या मतलब हुआ; तुम देखोगे जब, तो जिसको देख लिया उससे मुक्त हो गए। कैसे मुक्त हो गए देखते ही? क्योंकि अगर माया देख रही होती तो माया को पहचान नहीं पाती। देखने का मतलब ही है न, कि देखा, ठीक से देखा; देखने का ये मतलब थोड़े ही है कि खम्भे को देखा और लगा कि पेड़ है। तो अगर सच देखा, तो देखने वाला कौन है फिर? जिस क्षण में तुम देख गए, उस क्षण में तुम कौन हो? जिस क्षण में तुम सच देख गए, कि माया का सच क्या है, माया को चीर गए तुम, ठीक उस क्षण में तुम कौन हो? तुम सच ही हो गए। ये है देखने की कीमियाँ।

वास्तविक दर्शन छोटी बात नहीं होता है, इसीलिए बार-बार कहा गया है, “देखो! देखो! सीइंग! (देखना)” समझ रहे हो बात को? झूठ झूठ को नहीं पकड़ सकता, ये सूत्र समझ लेना। अंधेरा अंधेरे को नहीं पकड़ सकता। किसी चीज़ को पकड़ने के लिए कुछ ऐसा चाहिए जो उससे बिल्कुल अलग हो। बात आ रही है समझ में?

“अरे! अरे! पानी बह रहा है, चलो पानी को पकड़ते हैं।“

पकड़ लोगे? इसको ‘दृग-दृश्य विवेक' भी कहते हैं। तो वास्तव में जब तुमने देखा, तो देखी जा रही वस्तु से तुम पूर्णतया भिन्न हो गए; दृश्य अलग है और दृग अलग है, दृग माने आँख।

जिसने बिल्कुल साफ़-साफ़ देख लिया या सुन लिया, उसने देखी जा रही वस्तु या सुने जा रहे विषय से एक भिन्नता, आयामगत भिन्नता स्थापित कर ली। तो जिसने अपने भीतर के कचरे को देख लिया, वो कचरे से भिन्न हो गया। जिसने अपने भीतर के शोक को देख लिया; और हमारे भीतर शोक ही शोक है, तभी तो हमें इतना सुख चाहिए, कभी

सोचा नहीं तुमने? हर आदमी क्या माँग रहा है? दु:ख कि सुख? सुख माँग रहा है। सुख कब माँगेगा आदमी? जब दुःख में होगा। तो हमारे भीतर बहुत शोक है; इसीलिए तो जो मुक्त हो जाता है उसकी सुख की चाह बहुत कम हो जाती है, शून्य हो जाती है। और ये मुक्ति का लक्षण होता है, कि आदमी जैसे-जैसे मुक्त होने लगता है वैसे-वैसे वो सुख माँगना, या उत्तेजना माँगना, प्रसन्नता माँगना कम कर देता है।

दु:ख तुम्हारा जितना बढ़ेगा, सुख की तुम्हारी तड़प उतनी बढ़ेगी; तुम उतना ज़्यादा लालायित होकर भागोगे मनोरंजन की ओर।

प्रक्रिया सीधी नहीं है; देखा है तुमने माया को, और एक हो गए तुम आत्मा के साथ। उल्टा हिसाब मत बैठाना, कि आत्मा के साथ एक होने के लिए आत्मा को देखना पड़ेगा। नहीं, आत्मा को नहीं देखना पड़ेगा, आत्मा देखी जा ही नहीं सकती; आत्मा के माध्यम से तुम देखोगे माया को। आत्मा आँखों के सामने नहीं है कि तुम उसे देख लोगे, आत्मा आँखों के पीछे होती है; केनोपनिषद् याद है न? “कहाँ से आ रही हैं आँखें बाहर को जाने के लिए? कहाँ से आ रही है वाणी जगत में फैलने के लिए? आत्मा बैठी है पीछे, वहाँ से आ रही है।“

तो जब आत्मा आँखों के पीछे होती है तब आँखों के सामने की माया को तुम पकड़ लेते हो। और अगर आत्मा आँखों के पीछे है, माया को तुमने पकड़ लिया, तो तुम आत्मा से एक हो गए हो; इस वक्त तुम किसके कहने पर चल रहे हो? आत्मा के। वो तुमको पीछे से अनुशासित कर रही है, प्रकाशित कर रही है, इसी कारण सामने की माया को तुम साफ़-साफ़ कह पा रहे हो कि ये माया ही है। और अगर आत्मा आँखों के पीछे नहीं होती तो मालूम है तुम्हें कहाँ दिखाई देती? आँखों के आगे; और आत्मा अगर आँखों के आगे दिखाई दे, मतलब समझ लेना कि आँखों के पीछे कौन है? माया।

और बहुत लोग हैं जिन्हें आँखों के आगे आत्मा दिखाई देती है, वो कहते हैं, “सत्य का अभी मैं दर्शन करके आ रहा हूँ।" ये जितने सत्य के दर्शन करने वाले हैं, समझ लेना कि द्रष्टा कौन है इनका? कौन है जिसने इन्हें सत्य का दर्शन करा दिया? माया ने। समझ में आ रही है बात? और जब भीतर माया होती है न, तो बाहर आनंदस्वरूपा आत्मा को देखना तुम्हारे लिए ज़रूरी भी हो जाता है, पूछो क्यों? क्योंकि भीतर तो है माया, तो माने भीतर क्या है? शोक, कष्ट; तो आनंद तुम्हें दिखाई ही कहाँ पड़ेगा? बाहर; भीतर तो है नहीं, तो फिर तुम कहोगे, “आहाहाहा! वो रही आत्मा, कितनी सुंदर है! सच्चिदानंद है बिल्कुल।” मजबूरी है भाई! दूर ही दिखाई देगी, बाहर कहीं।

आत्म-साक्षात्कारी वो नहीं है जिसे सत्य दिखता है; आत्म-साक्षात्कारी को सर्वत्र पसरा हुआ झूठ-ही-झूठ दिखता है।

लेकिन घबराइए नहीं, झूठ देखकर के उसमें वो प्रतिक्रिया नहीं उठती जो आमतौर पर हममें और आपमें उठती है। हम और आप झूठ देखते हैं तो हमारी प्रतिक्रिया क्या होती है? हम घिना जाते हैं, हम कहते हैं, “झूठ! झूठ! गंदा! गंदा! कचरा! बदबू देता है।” आत्म-साक्षात्कारी जब झूठ को भी देखता है तो मुस्कुरा देता है, वो कहता है कि लीला तो ये उसी की है जो आँखों के पीछे बैठा है। कहता है, “वाह रे तुम्हारी करतूत!"

तो उसको झूठ से घिनाना नहीं पड़ता, क्योंकि वो आंतरिक रूप से स्वच्छ है। उसको पता है कि बाहर का जो कचरा है, जो गंदगी है, उसका कुछ अब बिगाड़ नहीं सकते, क्योंकि उसने देख लिया; “देख लिया हूँ तो मुक्त हो गया हूँ, अब ये मेरा कुछ बिगाड़ थोड़े ही सकता है। हाँ, जिसका अभी ये कुछ बिगाड़ सकता है मैं उसकी रक्षा कर दूँगा।”

मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता इसका आशय समझते हो? इसका आशय ये है कि आत्म-साक्षात्कारी माने वो जिसने माया का दर्शन कर लिया; अब वो कचरे में कूदने से घबराएगा नहीं बल्कि वो अधिकांशतः कचरे में ही पाया जाएगा, क्यों? क्योंकि उसे कचरे से अब डर नहीं लगता। समझ में आ रही है बात? वो अकेला है अब, जो अधिकारी हो गया है कचरे में प्रवेश करने का। वो अकेला है जिसको अब मलिन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वो भीतर से निर्मल हो गया है; तो अब वो निडर होकर के, हर तरह की गंदगी में प्रवेश कर जाता है। बाहर-बाहर से उसमें गन्दगियाँ लग भी जाती हैं, दाग-धब्बे लग भी जाते हैं; जो मूर्ख लोग हैं वो ये भी कहेंगे, “देखो गंदा तो हो गया।" बाहर से गंदा हो गया है, भीतर जो उसके है उसको तुम छू नहीं सकते, वो निर्दोष है बिल्कुल; कोई उसके भीतर विकार प्रवेश नहीं कर सकता।

वो एक हो गया है; उसी बात को यहाँ पर ‘अद्वितीय' कहा गया है। अगली बात कही गई है: कृतकृत्य हो जाता है; कृतकृत्य माने वो जिसके पास अब कुछ करने के लिए शेष नहीं बचा, उसको कहते हैं कृतकृत्य। जो करना था सब कर लिया, माने जो अपने लिए करना था कर लिया; “मेरे पास अब व्यक्तिगत तौर पर करने के लिए कोई प्रयोजन शेष नहीं है, मैं कृतकृत्य हुआ। मेरे व्यक्तिगत कर्मों का बहीखाता अब बंद हो चुका है।”

तो माने क्या? वो कुछ करेगा नहीं? अभी तो हम कह रहे थे कि वो कचरे में लोटता है, अभी कह रहे हैं कृतकृत्य हो गया है; ये दोनों बातें एक कैसे हुईं? अब उसके पास यही काम बचा है कि वो कचरे में लोटेगा; अपनी ख़ातिर नहीं, दूसरों के लिए। ये तो अजीब बात है, जो अपनी ख़ातिर काम करते हैं वो खुद को बचाए-बचाए घूमते हैं, और जिनको अब अपने लिए कुछ करना नहीं, वो कचरे में लोटते नज़र आते हैं। आप कहेंगे, "अजीब बात है! तुझे अब अपने लिए कुछ करना नहीं, तो तू इतनी तकलीफ़ क्यों उठा रहा है? गंदा हो रहा है, यहाँ कचरे में लोट रहा है। तकलीफ़ होगी, बीमारी होगी, घाव लगेंगे, गाली और खाएगा, लोग कहेंगे ये आ गया गंदा आदमी।" वो कहेगा, “अब हम और करें

क्या? हम तो हो गए हैं कृतकृत्य। अपने लिए तो अब हमें नहाना भी नहीं है, नहाएँगे भी तो अब दूसरों की ख़ातिर, कि भाई दूसरों को कहीं हमसे इतनी दुर्गंध न आए कि वो हमारी बात ही सुनने को तैयार न हों। तो दूसरों के सामने जब पड़ेंगे तो नहा लेंगे, और कुछ वेशभूषा ऐसी कर लेंगे कि दूसरे भाग न जाएँ घिनाकर। अपने लिए क्या करना है? हमारा तो खेल खत्म हो गया। हम निवृत्त हो गए हैं। कहीं को भी चल सकते हैं, कहीं को भी जा सकते हैं। कुछ लेना-देना बचा नहीं है, सबका हिसाब चुकता कर दिया, सारे कर्मफल निपटा दिए हैं।"

इससे ज़्यादा मौज़ की हालत हो नहीं सकती जीने की, कि कृतकृत्य हो जाओ और कृतकृत्य होकर के सब तरह के कृत्यों में डूब पड़ो। कृतकृत्य माने मुझे जो करना था वो मैंने कर लिया, तो इसका मतलब क्या है? अब कोई कृत्य नहीं करूँगा? न; कर्ता अब बचा नहीं, अब तो कृत्य ही कृत्य है। जब तक कर्ता था तब तक कृत्य करता था कर्ता को निपटाने के लिए; अब कर्ता निपट गया तो अब क्यों कृत्य करता हूँ? वैसे ही, जैसे इधर से उधर कोई जानवर डोले; खरगोश आप छोड़ दे यहाँ हॉल में, वो इधर-उधर भाग रहा है, कोई उसके पास खास कारण नहीं है। खरगोश के पास तो फिर भी हो सकता है कोई कारण हो; कृतकृत्य के पास बिल्कुल ही कोई कारण नहीं होता है व्यक्तिगत; जैसे कोई बच्चा हो, वो कुछ नहीं कर रहा, नाच रहा है।

अभी ये (एक श्रोता को इंगित करते हुए) केवल महाराज के साथ हफ़्ते भर पहले उधर पीछे वाले पार्क (उद्यान) में गए थे, तो वहाँ वो छोटी-छोटी लड़कियाँ नाच रही थीं; कोई वजह नहीं, कुछ नहीं, ऐसे ही अपना नाच रहे हैं। उनके पास तो मैं कह रहा हूँ फिर भी हो सकता है कि कोई वजह हो छोटी-मोटी, कृतकृत्य आदमी तो नाचता है बिल्कुल बेवजह; इसीलिए बड़ा खतरनाक होता है वो। अगर उसके पास वजह होती तो वजह का ही इस्तेमाल करके तुम उसको रोक लेते; जिसके पास कुछ भी करने के लिए कोई वजह है तुम उसकी कलाई मरोड़ सकते हो। वजह माने जानते हो न, क्या होता है? लालच; वजह माने उद्देश्य, कामना। तुम उसकी कामना पकड़ लोगे, कहोगे, “देख! गड़बड़ करेगा तो तेरी कामना मसल दूँगा।” और वो हाय-हाय कर रहा है, तुमने उसकी कामना भींच रखी है ऐसे।

> कृतकृत्य आदमी के पास कुछ है ही नहीं जिसे तुम भींच सको; वो हवा हो गया है।

मौज आ रही है? हम्म, ट्रेन भी आ रही है; खबरदार रहना! बहुत मौज में मत आ जाना।

प्रकृति और पुरुष क्या हैं?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, प्रकृति और पुरुष को समझाने की कृपा करें।

आचार्य प्रशांत: पुरुष-प्रकृति की जो अवधारणा है, मूलतः वो सांख्य योग से आयी है। लेकिन जिस तरीके से 'पुरुष' शब्द का प्रयोग फिर आध्यात्मिक साहित्य में हुआ है, वो आवश्यक नहीं है कि सांख्य योग के अनुसार ही हो। तो 'पुरुष' शब्द का प्रयोग दो तरीके से हुआ है – कभी-कभी तो अविनाशी, अक्षर, अचल आत्मा को पुरुष कह दिया गया है, और कभी पराप्रकृति को ही पुरुष कह दिया गया है। तो एक पुरुष तो वो है जो अद्वैत आत्मा है – इस अर्थ में भी 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। और दूसरा पुरुष वो है जो प्रकृति के द्वैत का ही दूसरा पक्ष है।

ये दूसरा पुरुष कौनसा है, समझाए देता हूँ। आत्मा के विषय में तो ना कुछ बोलने की ज़रूरत है, ना बोला जा सकता है। ये दूसरा पुरुष कौनसा है, समझना! कृष्ण कहते हैं भगवद्गीता में, कहते हैं कि 'जिसको तुम पुरुष समझते हो, वो भी प्रकृति-मात्र ही है, बस वो पराप्रकृति है। जिसे तुम साधारणतया प्रकृति कहते हो, वो अपराप्रकृति है।' तो प्रकृति माने क्या? ये सबकुछ जो दिखाई पड़ता है, इसे कहते हो न प्रकृति? तो जो प्रकृति को देखे सो पुरुष, जिसे प्रकृति दिखाई पड़ती हो वो पुरुष। अब जिसे प्रकृति दिखाई पड़ती है – ग़ौर से समझना – वास्तव में वो भी प्रकृति ही है। मुझे बताना, प्रकृति के अलावा किसी को प्रकृति दिखाई पड़ सकती है क्या?

आचार्य: लेकिन प्रकृति के भी वास्तव में दो हिस्से हैं – एक वो जो दृष्टा है, और दूसरा वो जो दृश्य है। कभी-कभी ऐसा भी किया जाता है कि दृश्य-भर को कह दिया जाता है 'प्रकृति' और दृष्टा को कह दिया जाता है 'पुरुष'। इसी बात को कृष्ण ने गीता में साफ़ भी करा है, उन्होंने कहा है, 'ना! जो दिखाई दे रहा है वो तो प्रकृति है ही, जो देख रहा है वो भी प्रकृति ही है।' ये जो दूसरी प्रकृति है, जिसको वो कह रहे हैं 'पराप्रकृति', इसको ही 'पुरुष' भी कह दिया जाता है। तो ये पुरुष आत्मा नहीं है, ये पुरुष अकर्ता नहीं है; ये पुरुष प्रकृति का ही एक रूप है, और इसीलिए ये प्रकृति के साथ उलझ जाता है। भई, प्रकृति के साथ प्रकृति ही तो उलझेगी न? तो बात ज़ाहिर है, कि वो पुरुष जो प्रकृति से उलझ जाता है बार-बार, वो भी प्रकृति ही है।

सुनते हो न तुम कि पुरुष को प्रकृति रिझा ले गई, कि प्रकृति ने पुरुष को रिझा लिया। अब आत्मा तो किसी पर रीझ सकती नहीं, और ना आत्मा किसी के लालच में आ सकती है, ना आत्मा में काम-क्रोध-मोह का संचार हो सकता है। तो ये प्रकृति ने किसको रिझा लिया? खूब सुनते हो न, संतों ने भी कहा है, कि 'अरे पुरुष! तुझे प्रकृति रिझा ले

जाएगी, बचके रहना!‘ ये किसको चेतावनी दे रहे हैं? आत्मा को तो नहीं दे रहे होंगे। आत्मा पर तो संकट नहीं आ जाता, कि प्रकृति आयी है लुभाने, पैसा दिखा रही है, या कोई सुंदर युवती आ गई है वो रिझा रही है, तो अब आत्मा काँप रही है, कि ‘अरे कहीं मैं बहक ना जाऊँ!‘ आत्मा के साथ तो ऐसा कुछ होगा नहीं।

तो समझ लो दो हैं जिनके तीन कर दिए जाते हैं, वास्तव में दो ही हैं – आत्मा और प्रकृति – पुरुष कुछ है ही नहीं। जब दो ही हों, आत्मा और प्रकृति, तब ‘आत्मा’ को कभी-कभार कह दिया जाता है ‘पुरुष'। जिस अर्थ में कबीर साहब ‘पुरुष’ शब्द का इस्तेमाल करते हैं, वो आत्मा को ही पुरुष बोलते हैं। और जो दूसरा अर्थ है वो भी समझ लो, कि आत्मा है और प्रकृति है और इस प्रकृति के ही दो हिस्से हैं, जिसमें से एक को कह दिया गया प्रकृति और दूसरे को कह दिया गया पुरुष। तो जब भी तुम पढ़ो कि ‘प्रकृति ने पुरुष पर आक्रमण कर दिया और उसको फँसा करके ले गई और पुरुष बेचारा बहक गया', तो जान लेना कि ये आत्मा की नहीं बात हो रही, ये प्रकृति की ही बात हो रही है, ये अपराप्रकृति और पराप्रकृति की बात हो रही है।

प्र२: आचार्य जी, पराप्रकृति और आत्मा में एक साधक कैसे भेद करेगा? इसमें क्या इशारे होंगे?

आचार्य: तुम अपने हाथ के बारे में सोचते हो, हाथ अपराप्रकृति है। जो सोच रहा है हाथ के बारे में, वो पराप्रकृति है। हाथ दृश्य हुआ न? तुम्हारा ही हाथ है, पर वो तुम्हारे लिए क्या है अभी एक? दृश्य है। तुम अपने ही हाथ के क्या हो? दृष्टा हो। और सोच रहे हो अपने ही हाथ के बारे में, तो वो अपराप्रकृति हुआ। और फिर इस सब मूर्खता से वैराग्य हो जाता है, ये आत्मा का काम है, ‘ये कर क्या रहे हैं, अपने ही हाथ को देखकर के सोचे जा रहे हैं!’

बहुत लोगों को अपने ही तन को देखने से बड़ा लगाव होता है। आईने में ख़ुद को देखते रहेंगे, अपना हाथ देखते रहेंगे, अपने ही बारे में सोचते रहेंगे – ये और क्या चल रहा है? प्रकृति ही प्रकृति की दृष्टा बनी बैठी है। कि जैसे कोई सुंदरी अपनी आँखों में काजल करे और फिर आईने में देखे; अब आँख ही किसको देख रही है? आँख को। तो दिख गया न कि देखने वाला और देखा जाने वाला एक हैं? तुमने ख़ुद ही अपनी आँख में काजल करा, और अब अपनी ही आँख से अपनी सुंदर आँख को देख रही हो; प्रकृति ही तो प्रकृति को देख रही है! पर तुम ये मानोगे नहीं, तुम कहोगे, ‘नहीं, हम अपनी आँख को देख रहे हैं।‘ ये 'हम' कौन है? प्रकृति ही तो है!

अगले जन्म में क्या बनेंगे आप?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आप पुनर्जन्म से बिलकुल ही इंकार कर देते हैं, जबकि सच ये है कि सिर्फ़ हिंदू धर्म में ही नहीं बल्कि बौद्धों में, सिक्खों में, जैनों में, सबमें पुनर्जन्म को स्वीकारा गया है। यहाँ तक कि जिन संतों के आप बड़े प्रशंसक हैं, उन्होंने भी पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। गीता में भी पुनर्जन्म की बात है। इसके अलावा और भी कई उदाहरण और वृत्तांत हैं जो पुनर्जन्म को साबित करते है। और अगर मौत के बाद कुछ नहीं है तो फिर अध्यात्म की क्या ज़रूरत है? खाओ-पियो ऐश करो।

आचार्य प्रशांत: देखो भाई, मैं पुनर्जन्म को अस्वीकार नहीं करता, मैं व्यक्ति के पुनर्जन्म को अस्वीकार करता हूँ। पुनर्जन्म तो होता है, निश्चित रूप से होता है, पर किसका? जिस भाषा में पहले कहा था उसी को आगे बढ़ाकर फिर समझाता हूँ – अहम् वृत्ति का पुनर्जन्म होता है, व्यक्तिगत अहंकार का नहीं। राजू मरकर काजू नहीं बनेगा। और काजू को बिलकुल नहीं याद आने वाला कि मैं पिछले जन्म में राजू था। और काजू अगर बोले कि 'मैं पिछले जन्म में राजू था, उससे पिछले जन्म में फाजू था, और उससे भी पिछले जन्म में तराजू था; मुझे अपने तीन जन्म याद हैं' तो ये जो काजू है, ये बहुत बड़ा धूर्त है।

जो कुछ भी व्यक्तिगत है तुम्हारा, व्यक्तिगत, पर्सनल , वो राख हो जाता है मृत्यु के साथ ही। बचा क्या रहता है? एक वृत्ति बची रहती है, वृत्ति, *टेंडेंसी*। टेंडेंसी कोई चीज़ नहीं होती, वो बस एक टेंडेंसी होती है, एक वृत्ति होती है, 'ऐसा होता है'। वृत्ति क्या चीज़ होती है? पुनर्जन्म कैसे लेती है? मैं हूँ, मेरे भीतर दस दोष हैं, मान लो मेरे भीतर डर है, एक दोष उठा लो डर। जो अगला पैदा होता है प्रकृति के समय चक्र में, उसमें भी डर होता है। तो डर ने पुनर्जन्म ले लिया, डर दोबारा पैदा हो गया। हर बच्चा जो पैदा हो रहा है, उसके साथ डर दोबारा पैदा हो जाता है। हर जो बच्चा पैदा हो रहा है उसके साथ मुक्ति की आकांक्षा भी दोबारा पैदा हो जाती है। हर जो बच्चा पैदा हो रहा है उसके साथ भ्रम दोबारा पैदा हो जाता है – ये है पुनर्जन्म।

व्यक्ति का कोई पुनर्जन्म नहीं होता, पर पुनर्जन्म निश्चित रूप से होता है। तुम ये कभी पूछते ही नहीं, 'किसका पुनर्जन्म?' मैं पुनर्जन्म की बात का खंडन नहीं कर रहा हूँ, मैं तुम्हें बस साफ़ बता रहा हूँ कि पुनर्जन्म किसका होता है। तुम ये माने बैठे हो कि 'मेरा ही हो जाएगा'। और उसकी वजह से बहुत बड़े-बड़े मूर्खतापूर्ण कांड होते हैं।

अभी एक गुरुजी हैं, उन्होंने एक योजना चलायी। वो बोले, 'ऐसा करो' – सब अमीर लोगों से बोलें, वस्तुतः गुरुओं का अमीर लोगों से ही ज़्यादा संबंध होता है; अगर

आप गुरु हैं, बड़े गुरु, व्यावसायिक तौर पर गुरु हैं, पेशेवर गुरु हैं, जैसे सब गुरु लोग होते हैं – तो इन गुरुजी ने कहा, 'देखो अभी तो तुम अमीर हो, लेकिन हो तो तुम पापी ही, जैसा कि ज़्यादातर अमीर लोग होते हैं, तो तुम मरकर तो पता नहीं क्या बनोगे, भिखारी बनोगे, न जाने क्या बनोगे, क्योंकि तुमने पाप तो खूब ही किए हैं। तो तुम मेरे साथ एक डील करो, डील , अनुबंध, समझौता।' डील क्या है? बोले, 'मरने से पहले तुम अपनी आधी दौलत मेरे नाम कर दो। मैं तो गुरु हूँ, और मैं अंग्रेज़ी बोलने वाला गुरु हूँ, तो मुझे तो पता है ही कि तुम मरकर क्या बनोगे, क्योंकि मुझे भी अपने पिछले कई जन्मों का पता है। तो तुम मरकर के जब पैदा होओगे दूसरे जन्म में –और पाप तुमने खूब किए हैं, इसीलिए अगले जन्म में बनोगे गरीब – तो तुमने अभी जो दौलत मुझे दी है, वो दौलत मैं लाकर के तुम्हें दे दूँगा, दस प्रतिशत हिस्सा मेरा है।'

ये मूर्खताएँ चलती हैं जब तुम सोचते हो कि व्यक्ति का ही पुनर्जन्म होगा। व्यक्ति का कोई पुनर्जन्म नहीं होता। व्यक्ति के पास तो एक ही जीवन है। प्रकृति की लहरें एक-के-बाद-एक आती जाती रहती हैं। व्यक्ति का कोई पुनर्जन्म नहीं होता, आत्मा का कोई जन्म ही नहीं होता, वो अजन्मी और अमर है। व्यक्ति का एक ही जन्म होता है, कोई पुनर्जन्म नहीं होता। आत्मा का कोई जन्म ही नहीं होता तो पुनर्जन्म क्या होगा? आत्मा अजन्मी और अमर है। ना उसकी मृत्यु होती है, ना जन्म होता है।

प्रकृति है जिसमें जन्म और मृत्यु का खेल चलता रहता है। तो प्रकृति की एक लहर मिटती है, दूसरी लहर खड़ी हो जाती है; जो दूसरी लहर खड़ी हुई है वो पिछली लहर का पुनर्जन्म नहीं है, वो सागर का ही पुनर्जन्म है। पिछली लहर तो एक बार आयी और मिट गई। अब सागर दोबारा प्रकट होगा दूसरी लहर के रूप में। मैं पुनर्जन्म से इंकार नहीं कर रहा हूँ, बस मैं तुमको समझा रहा हूँ किसका पुनर्जन्म होता है, 'किसका' पुनर्जन्म। समझ में आ रही है बात?

अब प्रश्न के दूसरे हिस्से पर आते हैं। तुमने कहा, 'अगर मौत के बाद कुछ भी नहीं, तो फिर अध्यात्म की ज़रूरत क्या है? खाओ-पियो ऐश करो।' बाबा, अध्यात्म इसलिए नहीं होता कि तुम्हारा अगला जन्म सुधर जाएगा; अध्यात्म इसलिए होता है ताकि तुम इस वर्तमान जन्म को सुधार सको। तुम कह रहे हो, 'खाओ-पियो ऐश करो।' तुम खा-पी कर ऐश कर कहाँ रहे हो? यहाँ कौन है जो ऐश कर रहा है? मुझे तो यहाँ सब तड़पते और दुखी ही नज़र आते हैं। जिनमें थोड़ी ईमानदारी है वो बता देते हैं कि हम तड़प रहे हैं और दुखी हैं; जो महाबेईमान हैं, वो भीतर से तड़प रहे होते हैं, दुखी हैं, लेकिन बाहर-बाहर ये दिखाते हैं कि हम तो बड़े सुखी हैं। और बाहर भी वो क्यों दिखाते हैं कि वो बड़े सुखी हैं? ताकि उनका सुख देखकर के दूसरे और तड़पें। यहाँ कौन सुखी है?

तुम कह रहे हो, 'अगर मरने के बाद कुछ नहीं तो खाओ-पियो ऐश करो।' खाने-पीने से, भोग से ऐश अगर हो जाती तो मैं कहता बिलकुल करो, क्योंकि आनंद ही अध्यात्म का उद्देश्य है। तुम्हें आनंद अगर खाने-पीने से मिल सकता होता तो मैं कहता खूब खाओ-पियो, भोगो; इसी से आनंद मिल जाएगा। ज़रूरत क्या है किसी ग्रंथ की, शास्त्र की, ध्यान की, साधना की, भक्ति की; कोई ज़रूरत ही नहीं। लेकिन ऐसा नहीं है, खा-पी कर ऐश नहीं कर रहे हो तुम, तुम्हें पता है।

आजतक कोई नहीं हुआ जो खा-पी कर ऐश कर ले। चूँकि तुम ऐश नहीं कर रहे, चूँकि तुम दुखी हो, और अभी दुखी हो, इसी जन्म में दुखी हो, इसीलिए अध्यात्म है। अध्यात्म इसलिए नहीं है कि तुम अगला जन्म सँवार सको; अध्यात्म इस जन्म के, तुम्हारे वर्तमान के दुखों को दूर करने के लिए होता है। और वर्तमान में सब दुखी हैं। जीव मात्र दुखी है। हर बच्चा जो पैदा होता है वो दुख की गठरी अपने सीने में साथ रखकर पैदा होता है। अध्यात्म उस गठरी का बोझ हल्का करने के लिए है। आगे-पीछे की बात छोड़ो, अभी जो तुम्हारा दुख है, अध्यात्म उसको काटता है।

कह रहे हो, 'अगर अगला जन्म नहीं है, मौत के बाद कुछ भी नहीं है, तो खाओ-पियो ऐश करो।' तुम्हें मौत के बाद की बड़ी चिंता है! तुम्हारे आज जो दुख हैं, ईमानदारी से बताना दिल पर हाथ रखकर, वो अगले जन्म के दुख हैं? तुम ये सोच करके अपनी रातों की नींद गँवाते हो कि 'अगले जन्म में मेरा क्या होगा'? या तुम्हें जो सारी समस्या है वो वर्तमान को लेकर है? बोलो! तुम इस जन्म की अपनी बीवी से परेशान हो या अगले जन्म की बीवी से? तुम इस जन्म के अपने बॉस से परेशान हो या अगले जन्म के बॉस से? परेशानियाँ तुम्हारी सारी इस जन्म से हैं, और अध्यात्म तुम्हारा अगले जन्म की फ़िक्र कर रहा है! ये कौनसा अध्यात्म है? तुम्हें शरीर की भी बीमारी है तो तुम इस जन्म के शरीर की बीमारी से त्रस्त हो या अगले जन्म के शरीर की बीमारी से त्रस्त हो? बताओ!

तुम्हारी जो भी इस वक़्त चिंता है, परेशानी है, जो भी तुम्हारे ज़िंदगी का नर्क है, वो अभी का है या पिछले या अगले जन्म का है? अभी का है न? तो अध्यात्म इसलिए है ताकि ईमानदारी से तुम्हारा अभी इलाज किया जा सके। न जाने तुमको किसने ये पट्टी पढ़ा दी कि अभी अच्छे कर्म करोगे तो आगे अच्छा फल मिलेगा। अध्यात्म तुम्हें ये बताने के लिए है, कृष्ण और उनकी गीता तुम्हें ये बताने के लिए हैं कि जो ठीक कर्म नहीं कर रहा वो इसी वक़्त भुगत रहा है क्योंकि उसका कर्ता ही ख़राब है। कर्ता माने 'मैं', कर्ता माने वो जो तुम हो, तुम्हारी ज़िंदगी।

कर्म का सिद्धांत, निष्काम कर्म इसलिए नहीं होते कि तुम्हें आगे कुछ मिल जाएगा। अगला जन्म तो छोड़ दो, इसी जन्म में भी भविष्य में तुम्हें कुछ मिल जाएगा, इसलिए

नहीं होता निष्काम कर्म। निष्काम कर्म तुम्हें अभी, इसी क्षण त्वरित शांति दिलाता है।

प्र२: आचार्य जी, ये खेल फिर ख़त्म कैसे होगा? क्योंकि जितने लोग, उतनी ही वृत्तियाँ।

आचार्य: सारी वृत्तियों के केंद्र में होती है अहम् वृत्ति, और अहम् वृत्ति अज्ञान के माहौल में ही जीवित रह सकती है। मात्र अज्ञान ही कहता है 'मैं हूँ', अहम्। सारी वृत्तियों के केंद्र में – डर एक वृत्ति होती है, संशय एक वृत्ति होती है, भ्रम एक वृत्ति है, मोह एक वृत्ति है, मद है – इन सब वृत्तियों की माता वृत्ति, केंद्रीय वृत्ति, मूल वृत्ति अहम् वृत्ति है। डर है, किसको? मुझे। मैं हूँ तो डर है। मैं डरा हुआ हूँ। तो डर की वृत्ति के पीछे भी कौनसी है? मैं ना होऊँ तो डर कैसा? सारा डर आत्मरक्षा के लिए ही तो होता है न? 'मैं' ख़ुद को बचाना चाहता है, इसीलिए बेचारा डरा हुआ है कि 'मैं' को कहीं नुकसान ना हो जाए। 'मैं' ही नहीं, तो डर बचेगा क्या? तो सारी वृत्तियों के नीचे जो मातृ वृत्ति बैठी हुई है, मदर टेंडेंसी , वो कौनसी है? अहम् वृत्ति। और अहम् वृत्ति अज्ञान का ही दूसरा नाम है। अज्ञान ही बोलता है, मात्र अज्ञान ही बोलता है कि 'मैं हूँ'। जब सही ज्ञान हो जाता है तो ये अहम् वृत्ति ही क्षीण हो जाती है, तो फिर बाकी सारी वृत्तियों का ज़ोर अपनेआप कम हो जाता है।

प्र३: आचार्य जी, ये काफ़ी प्रचलित बात है कि जो इंसान की योनि होती है, ये करोड़ों योनियों के बाद हमें मिलती है। तो अगर आप कुछ ग़लत करते हैं तो आपको करोड़ों योनियों में चक्कर लगाकर वापस आना पड़ता है, ये भोगना पड़ता है। तो अगर सिर्फ़ अहम् ही है जो इतने सारे शरीरों में, इतने सारे अलग-अलग प्राणियों से आ रहा है, तो अहम् तो एक ही है, तो ये करोड़ों तरीकों से व्यक्त…

आचार्य: नहीं, नहीं, अहम् वृत्ति एक है, व्यक्तिगत अहंकार बहुत हैं, अलग-अलग हैं। समझो, तुम बोलते हो 'मैं कमलेश हूँ', ये बोलती हैं 'मैं अनुष्का हूँ', ये बोलते हैं, 'मैं उदित हूँ', ये कुछ और बोलते हैं, वो कुछ और बोलते हैं। ठीक है? तो 'मैं' जो बोल रहा है वो सबमें भिन्न ही है न? तो व्यक्तिगत अहंकार करोड़ों तरह का है, अरबों तरह का है, असंख्य है व्यक्तिगत अहंकार। उनमें सबमें साझा क्या है? सब क्या बोल रहे हैं? एक चीज़ जो सबमें साझी है वो क्या है? सब क्या बोल रहे हैं? 'मैं हूँ।' इसको अहम् वृत्ति बोलते हैं। अहम् वृत्ति बोलती है ,'मैं हूँ'। अपने होने का एहसास अहम् वृत्ति है, 'मैं हूँ'। लेकिन जैसे ही तुमने ये बोला, 'मैं कमलेश हूँ', अब ये अहम् वृत्ति नहीं है, अब ये व्यक्तिगत अहंकार है।

इन दो बातों में अंतर समझो! हम सोचते हैं व्यक्तिगत अहंकार का पुनर्जन्म होता है, व्यक्तिगत अहंकार का पुनर्जन्म नहीं होता, अहम् वृत्ति का होता है। 'मैं हूँ' दोबारा

जन्म लेगा। हर बच्चा जो नया जन्म लेता है, वो क्या बोलता है? 'मैं हूँ'। लेकिन 'मैं कमलेश हूँ', दोबारा जन्म नहीं लेगा। कोई बच्चा दोबारा नहीं आने वाला जो 'कमलेश' से सम्बन्धित हो। समझ में आ रही है बात?

अहम् वृत्ति का लगातार, निरंतर पुनर्जन्म होता रहता है, 'कमलेश' का नहीं होगा दोबारा पुनर्जन्म।

प्र३: आचार्य जी, तो ये अहम् वृत्ति एक तरीके से अंडरलाइंग प्रोपर्टी जैसी है।

प्र३: तो अंडरलाइंग प्रोपर्टी (आधारभूत गुण) जो एक्सिस्ट (अस्तित्व) ही करती है हमेशा, वो बार-बार जन्म लेती है, हम ऐसा क्यों कहते हैं?

आचार्य: क्योंकि वो अस्तित्वमान होती है इंटेंजिबल (अमूर्त) तरीके से। हर बच्चे में वो क्या हो जाती है? प्रत्यक्ष हो जाती है, प्रकट हो जाती है, मैनिफेस्ट हो जाती है। देखो, ये जो वृत्ति भी है, वो वास्तव में अमर ही है। जैसे जीवात्मा को हम कहते हैं न, जीवात्मा भी मरती नहीं है, वो बस शरीर छोड़कर जाती रहती है। तो वो जो जीवात्मा है वो वास्तव में अहम् वृत्ति है। जीवात्मा आत्मा नहीं है, जीवात्मा क्या है? अहम् वृत्ति है। तो मरती वो भी नहीं है, बस जब वो शरीर के साथ संयुक्त होती है तब वो प्रकट होती है।

ये भी नहीं कहना चाहिए कि वो हवा में रहती है फिर शरीर में घुस जाती है। वो जीवात्मा, वो अहम् वृत्ति आती ही कहाँ से है? वो शरीर की कोशिकाओं से आती है। शरीर और अहम् वृत्ति एक-दूसरे से अभिन्न हैं। शरीर माने कैसा शरीर? जीवित शरीर, जिसकी कोशिकाएँ अभी स्वस्थ हैं, जिसको कोई बहुत भारी चोट नहीं लग गई। यदि कोशिकाएँ तुमने तोड़-फोड़ दीं, जब शरीर ही टूट-फूट गया तो फिर अहम् वृत्ति भी टूट-फूट गई, वो भी नहीं बचती।

तो अहम् वृत्ति या जीवात्मा वास्तव में शरीर का ही दूसरा नाम है। अगर शरीर होगा तो वो बोलेगा, 'मैं हूँ'। अगर शरीर है, तो क्या बोलेगा वो? 'मैं हूँ'। कोई शरीर हो, आदमी का हो, घोड़े का हो, गधे का हो, कीड़े का हो, वो बोलेगा, 'मैं हूँ' – यदि शरीर सलामत है। टूटा-फूटा शरीर है, उसमें कुछ हो गया है, तो वो नहीं बोलेगा फिर। उसको हम क्या बोलते हैं? मृत शरीर। मृत शरीर का मतलब ही ये है कि ऐसा शरीर जिसकी व्यवस्था अब चरमरा चुकी है। अब वो नहीं बोलेगा 'मैं हूँ'। क्योंकि इसमें अब वो कनफिग्रेशन (विन्यास) ही नहीं बचा जो विशिष्ट था, जो कांशियसनेस (चेतना) के लिए आधार बन सकता था। अगर वो कनफिग्रेशन नहीं है तो फिर चेतना बचती नहीं है।

प्र: आचार्य जी, इसमें थोड़ा स्पष्टीकरण चाहूँगा। जैसे आप कह रहे हैं जीवित शरीर, तो जब हम कह रहे हैं कि जीवित शरीर में ही 'मैं' भाव है। तो ये अमीबा में भी होगा?

आचार्य: हाँ, अमीबा में भी होगा।

प्र: लेकिन अमीबा कह तो नहीं रहा है ‘मैं‘, बल्कि उसको कुछ होगा तो वो रिएक्ट (प्रतिक्रिया) करता है। लेकिन अगर हम एटॉमिक लेवल (परमाणु के स्तर) पर जाएँ, वो भी अपने स्टेबल स्टेट (स्थिर अवस्था) को बचाने के लिए कुछ हरकत करता है।

आचार्य: बिलकुल। सब जीवित हैं।

प्र: तो फिर मृत भी नहीं होगा कोई?

आचार्य: कोई मृत नहीं है। वास्तव में, तुम जिसको मृत कहते हो, वो बात बस ऐसी ही है कि अब वो उस तरह की चेतना नहीं दर्शा रहा जैसी तुम्हारी है। अब वो एक अलग तरह की चेतना दर्शा रहा है। इसीलिए श्रीकृष्ण गीता में साफ़-साफ़ कहते हैं कि चेतना और अचेतना अलग-अलग हैं ही नहीं, कि जड़ और चेतन एक हैं, कि पुरुष और प्रकृति एक हैं। चूँकि पुरुष और प्रकृति एक हैं, इसीलिए वो दोनों को नाम भी एक ही दे देते हैं। वो पुरुष को कह देते हैं पराप्रकृति और जिसको तुम साधारण जड़ प्रकृति कहते हो, उसको वो कह देते हैं अपराप्रकृति।

तो जड़ प्रकृति का नाम क्या हुआ? – अपराप्रकृति। और चेतन पुरुष प्रकृति का क्या नाम हुआ? – पराप्रकृति। पर हैं दोनों प्रकृति ही। माने दोनों में कुछ तो साझा होगा। दोनों में क्या साझा है? दोनों में यही चीज़ साझी है कि चेतना है दोनों में। बस एक में बहुत ज़्यादा है, और एक में एकदम प्रसुप्त हो गई है, डॉरमेंट (प्रसुप्त) हो गई है। डॉरमेंट ना हुई होती तो आती कहाँ से? मिट्टी से फूल कैसे पैदा हो जाता? जड़ पदार्थ में चेतना कहाँ से आ जाती? थी, पहले से थी; बस स्थितियों का संयोग ऐसा बना कि अब वो प्रकट हो गई। कोई भी चीज़ कभी भी मृत नहीं है, कण-कण में नारायण है। कुछ कहीं मृत नहीं है। तुम जो खाना खाते हो उसको तुम क्या बोलते हो, ज़िंदा है या मुर्दा है? दाल है, उसको तो तुम यही कहते हो न कि दाल में जीवन नहीं है? वो खाते ही फिर जीवन कैसे बन जाता है? इसीलिए फिर उपनिषद् बोलते हैं 'अन्नम् ब्रह्म।' मतलब समझो बात का!

कुछ भी मुर्दा नहीं है, हर चीज़ जीवित है। मौका आने पर वो रंग दिखाएगी, मौका नहीं आया है अभी। (दीवार की ओर इशारा करते हुए) ये दीवारें बोलेंगी एक दिन, अभी मौका नहीं आया है बस। ये दीवारें बोलेंगी एक दिन, और ये जो सामने बैठा बोल रहा है ये दीवार बना होगा; समय की बात है। मिट्टी एक दिन प्राण धारण करेगी और आज जो प्राण धारण करे हुए है वो कल मिट्टी हो जाएगा, दोनों में कोई अंतर है नहीं मूलतया।

माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रौंदे मोहे एक दिन ऐसा आएगा, मैं रौंदूँगी तोहे।। ~ कबीर साहब

मतलब समझो, अभिन्न हैं। वास्तव में कोई मृत नहीं है, 'माटी कहे कुम्हार से'। जो भी पदार्थ, मैटेरियल अस्तित्व में है, उसमें एक डॉरमेंट 'मैं' भावना तो है ही न। इलेक्ट्रॉन को कैसे पता प्रोटॉन की तरफ़ भागना है? प्रोटॉन को कैसे पता प्रोटॉन से दूर भागना है? बोलो, बताओ न! तो वहाँ जो तुम्हें जड़ – जड़ माने अनकांशियस (अचेतन) – खेल दिखाई दे रहा है, ग़ौर से देखो न, कुछ तो है उनके भीतर भी जो उन्हें उनके अस्तित्व का एहसास दिला रहा है – 'मैं साहब इलेक्ट्रॉन हूँ और मुझे प्रोटॉन की तरफ़ जाना होता है।' तो वहाँ पर जो खेल है वो तुम्हें दिख रहा है कि ये तो साहब जो खेल है फिज़िकल (भौतिक) है।

वैसे ही स्त्री-पुरुष का जो आकर्षण होता है, वो तुम्हें पता नहीं है क्या कि वो भी तो इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन की ही बात है? इधर एक हॉर्मोन है उधर दूसरा हॉर्मोन है, उन दोनों को एक-दूसरे की तरफ़ खिंचना ही होता है। वहाँ भी तो इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन ही हैं। वही इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन जब शरीर में आ जाते हैं तो जीवित होकर एक-दूसरे की तरफ़ खिंचने लगते हैं। तब तुम मान लेते हो कि ये जीवित हो गया मामला, जान आ गई। वही इलेक्ट्रॉन-प्रोटॉन जब तक केमिकल (रसायन) में होते हैं तो तुम मानते ही नहीं कि वो ज़िंदा हैं।

ये भी बड़े अहंकार की बात है – जब तक कोई चेतना हमारी चेतना जैसी नहीं होगी, हम उसे जीवित नहीं मानेंगे। हमारे लिए जीवन की परिभाषा क्या है? जो चीज़ हमारी तरह जैविक गतिविधियाँ दिखाती हो, उसको हम जीवित मानेंगे, नहीं तो नहीं मानेंगे। ये इतनी सारी जो खोजें चलती हैं, एक्स्ट्रा टेरेस्ट्रियल लाइफ़ (अन्य ग्रहों के जीवन) की कि दूसरे ग्रहों पर, इधर-उधर जीवन खोजो। देखो, इनमें चलता क्या है, ये जीवन के नाम पर क्या खोंजते हैं? ये वैसा जीवन खोजते हैं जैसा पृथ्वी पर पाया जाता है। तुम्हें कैसे पता कि वहाँ जीवन नहीं है? हो सकता है वो बिलकुल सामने हो, तुम्हें दिख ना रहा हो। हो सकता है जिस चीज़ को तुम जड़ चट्टान समझ रहे हो मंगल ग्रह की, वो जीवित हो। पर वो उस तरह से जीवित नहीं है जैसा तुमने जीवन को परिभाषित किया है। इसीलिए वो जीवन तुम्हें समझ में ही नहीं आता।

ये बड़े अहंकार की बात हुई न कि जीवन सिर्फ़ वही है जैसा मेरा जीवन है? इस तरह के आलावा कोई जीवन होगा तो मैं उसे जीवित मानूँगा ही नहीं। चट्टान जीवित है, पर तुम उसे जीवित मानना ही नहीं चाहते क्योंकि वो तुम्हारी तरह जीवित नहीं है। वो तुम्हारी भाषा नहीं बोलती, वो तुम्हारी तरह खाना नहीं खाती, वो तुम्हारी तरह गतिविधि नहीं करती, तो तुम मानते ही नहीं कि वो जीवित है। जबकि उसी चट्टान पर खिलने वाला है फूल, फिर तुम मान लोगे कि वो जीवित है। फूल क्या सिर्फ़ बीज से निकला है? उसी चट्टान की दरार में एक बीज पड़ा था और फूल पैदा हो गया, क्या सिर्फ़

बीज से आया? चट्टान ही फूल बनकर सामने आ जाती है। जीवन पहले से था, फूल के रूप में, बस अभिव्यक्त हो गया है।

पाँच नाम बेहोशी के

आचार्य प्रशांत: “पंचवर्ग क्या है?”

जैसे माया के ही पाँच रूपों, पाँच वर्गों की बात की जा रही हो। आत्मा के ऊपर उपाधि बनकर अज्ञान, अविद्या या माया सत्य को छुपाए रहती है, ढके, आच्छादित किए रहती है, उसी अज्ञान को पाँच अलग-अलग तरीकों से कहा गया है पंचवर्ग में।

एक तरीका है कहने का कि सत्य को, या आत्मा को प्रकृति ने अपने तीन गुणों से ढक रखा है; तो ये पहला वर्ग हो गया, त्रिगुणात्मक प्रकृति का।

दूसरा तरीका हो गया कहने का कि मन समेत जो अन्तःकरण चतुष्टय के चार विभाग हैं उन्होंने आत्मा को ढक रखा है। तो मन समेत ये चार विभाग कौन से हुए? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। तो ऐसे भी कहा जा सकता है कि इन्होंने ढक रखा है आत्मा को।

या आप कह सकते हैं कि जो जीव की प्राण से आसक्ति है, जिसके कारण वो अपने आपको जीवित कहता है, तो उन चौदह प्राणों, माने चौदह प्रकार की वायु ने सत्य को ढाँक रखा है। तो ये तीसरा तरीका हो गया कहने का।

चौथा तरीका ये हो गया कि राग ने और द्वेष ने, सुख ने और दु:ख ने; इन्होंने सच को ढक रखा है।

और पाँचवाँ तरीका हो गया कहने का कि कर्तव्य ने और अकर्तव्य ने, माने पाप और पुण्य ने सच को दबा रखा है।

यही बात श्रीकृष्ण कहते हैं न गीता में, कि जैसे अग्नि होते हुए भी अपने चारों ओर के धुएँ के कारण हो सकता है दिखाई न देती हो, जबकि अग्नि के कारण ही धुआँ है, वैसे ही सत्य दिखाई नहीं देता है अपने ऊपर लेपित माया के कारण।

अन्यत्र उपनिषद् कहते हैं कि सच का मुँह स्वर्णमय पात्र द्वारा ढका हुआ है। सच दिखाई ही नहीं देता, उसके ऊपर कुछ ऐसा छाया हुआ है जिसमें सोने जैसी चकाचौंध है, वो आँखों को चौंधिया देती है, वो अपने पार देखने ही नहीं देती। वो पहली बात, आकर्षक लगती है और दूसरी बात, वो आँखों की देखने की शक्ति को खत्म कर देती है।

आप किसी चमकदार चीज़ की ओर बहुत देर तक देखें तो उसके बाद आप पाएँगे आपकी आँखें कम-से-कम कुछ देर के लिए देखने की शक्ति खो चुकी हैं। ठीक वैसा ही होता है जब आप पंचवर्ग की ओर देखते हैं। इनमें से किसी की ओर भी मनुष्य अनायास ही नहीं देखता, आप देखते ही इनकी ओर तब हैं जब आप इनकी लालसा रखते हैं या आप इनसे किसी प्रकार का संबंध या सरोकार रखते हैं। या अधिक से अधिक इतना कह सकते हैं कि हो सकता है आपने इनकी ओर संयोगवश भी देख लिया हो, लेकिन मन में बैठी उन्हीं पुरानी वृत्तियों के कारण देखते ही आप इनसे एक रिश्ता बना लेते हैं। और रिश्ता लाभ-हानि का ही होता है, सुख-दुःख का ही होता है, राग-द्वेष का ही होता है। दोनों ही बातें हो सकती हैं।

पहला, मन में पहले से ही किसी विषय के प्रति लिप्सा बैठी हुई है इस कारण आपने उस विषय को देखा। और दूसरी चीज़ हो सकती है कि मन में जो लिप्सा बैठी हुई है वो अर्धचैतन्य है, वो प्रसुप्त है, पर जब आपने संयोगवश किसी विषय को देखा तो उस विषय को देखने के कारण वो लिप्सा जागृत हो गई। लेकिन दोनों ही स्थितियों में एक बात तो तय है, हम अगर किसी विषय की ओर देख रहें हैं तो निरपेक्ष होकर नहीं देख सकते, कुछ हमारा उससे संबंध बन जाता है। और जहाँ हमने किसी भी दृष्टव्य विषय से संबंध बनाया, तहाँ उस विषय का आधारभूत सत्य हमसे ओझल हो जाता है।

पंचवर्ग में जो कुछ भी है वो सच को हम तक पहुँचने से रोकने वाली बाधा ही है, और पंचवर्ग में जो पाँचों वर्ग हैं वो वास्तव में एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं। वर्गों में कोई पार्थक्य नहीं है, देखने वाले की दृष्टि में पार्थक्य है। उदाहरण के लिए- अगर कोई पाने-खोने से प्रेरित होने के कारण सच से दूर है तो हम उसे कहेंगे, “इसकी आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ है कर्तव्य-अकर्तव्य या पाप-पुण्य का।“ दूसरी ओर अगर कोई तमसा के कारण, अचेतन हो जाने के कारण प्रमादी होकर सच से दूर है तो हम कहेंगे, “इस पर पर्दा पड़ा हुआ है प्रकृति के तमोगुण का।“

तो ये तो लोगों ने अलग-अलग तरीके खोज रखे हैं; जीव ने सौ-तरह के बहाने गढ़ रखे हैं सच से दूर होने के। तो वो जो सौ-तरह के बहाने हैं उनको पाँच वर्गों में विभक्त कर दिया गया है, 'पंचवर्ग' कहके।

वो पाँच-वर्गों की व्यवस्था भी इसलिए बना दी गई है ताकि आपको बोलने में, और याद रखने में सुविधा हो, नहीं तो बात ये है कि जितने लोग उतने कारण, जितने मन उतने बहाने। हर व्यक्ति के पास अपना एक व्यक्तिगत कारण होता है सच से दूरी बनाने का। कोई भी दो लोग बिलकुल एक-ही कारण कहते नज़र नहीं आएँगे।

आपसे पूछा जाए कि, “आप क्यों अपने व्यक्तित्व के अंधेरे में गुम हो, सच की तरफ़ क्यों नहीं बढ़ते?” आप कुछ बात बताएँगे। आपसे पूछा जाए(दूसरे श्रोता को इंगित करते हुए) आप दूसरी बात बताएँगे, आपसे पूछा जाए(तीसरे श्रोता को इंगित करते हुए) आप तीसरी बात बताएँगे।

तो इन्हीं सब बातों को लेकर के उनको पाँच हिस्सों में विभक्त कर दिया गया है। उनको क्या नाम दिया गया- पंचवर्ग। ठीक है?

इस पाँच को पाँच नहीं, पाँच हज़ार जानना; पाँच तो ऐसे ही है जैसे मुहावरा। कोई कहना चाहे तो यहाँ तक कह सकता है कि आदमी के हाथ में उँगलियाँ होती हैं पाँच, इसीलिए माया के हिस्से कर दिए गए पाँच; ले दे करके सारे हिस्से हैं एक ही केन्द्रीय वृत्ति के कारण, और वो वृत्ति है अज्ञान की। दूसरी दृष्टि से देखूँ तो कह दूँगा वो वृत्ति है अप्रेम की।

सच पूछो तो अज्ञान से लड़ना फिर भी आसान होता है, ग्रंथ आकर के ज्ञान की आपूर्ति कर सकते हैं। अप्रेम का इलाज़ बड़ा मुश्किल होता है, कोई ग्रंथ नहीं है जो प्रेम सिखा सके बहुत कुशलतापूर्वक। इसीलिए ज़्यादातर ग्रंथ तो प्रेम सिखाने या बताने का प्रयास भी नहीं करते, वो कहते हैं कि प्रेम हो अगर पहले ही तो हमारे पास आना, हमारे पास आकर प्रेम सीखने की कोशिश मत करना।

ग्रंथ कहते हैं न, कि तुम्हारे पास मुमुक्षा होनी चाहिए हमारे पास आने से पहले? किसी-न-किसी तरीके से सब गुरु, सब ग्रंथ ये शर्त रखते हैं, कहते हैं कि जिसे मुक्ति की आकांक्षा हो वो ही हमारे पास आए। ये जो मुक्ति की आकांक्षा है, मुमुक्षा, यही तो सत्य के प्रति प्रेम है न? इसी आकांक्षा का ही नाम, “सत्य मिल जाए”, इसी का तो नाम प्रेम है। तो ये सिखाया नहीं जा सकता। ग्रंथ भी कहते हैं, “ ये आप में हो, तो हमारे पास आइएगा।“

हाँ, संतों ने ज़रूर कोशिश की हमें प्रेम सिखाने की, उन्होंने खूब गीत रचे, खूब बातें कहीं; ये उनकी करुणा थी। लेकिन फिर भी कुछ कहा नहीं जा सकता कि अप्रेम से संतों के गीत भी जीत सकते हैं या नहीं।

तो हमारे भीतर जो मूल ग्रंथि बैठी है, मैंने कहा, उसके दो नाम हो सकते हैं: अज्ञान या अप्रेम, और यही अभिव्यक्त होते हैं पंचवर्ग के रूप में। ठीक है?

तीन गलतियाँ जो सब करते हैं

आचार्य प्रशांत: सत्य को मायापति कहा गया है; समझते हैं। माया क्या? वो जो हमें प्रतीत होता है, जिसकी हस्ती के बारे में हमे पूरा विश्वास हो जाता है, पर कुछ ही देर बाद या किसी और जगह पर, किसी और स्थिति में हम पाते हैं कि वो जो बड़ा सच्चा मालूम पड़ता था, या तो रहा नहीं या बदल गया; ऐसे को माया कहते हैं।

> गलत केंद्र से अनुपयुक्त उपकरणों के द्वारा छद्म विषयों को देखना और उनमें आस्था बैठा लेना ही माया है।

तीनतरफ़ा गलती होती है। जो देख रहा है, द्रष्टा या कर्ता, वो गलत है। वो गलत क्यों है? क्योंकि देखते समय, देखने के बिंदु पर उसका इरादा सत्य देखना नहीं है; उसका इरादा है इस प्रकार देखना कि देखने वाले की हस्ती बची रह जाए, कि देखने वाले का अस्तित्व अक्षुण्ण, सुरक्षित रह जाए। ये बेईमानी के साथ देखना हुआ। इस प्रकार के देखने में सत्यता, सत्यनिष्ठा बिल्कुल नहीं है। जो ऐसे देख रहा है वो देखना चाह कहाँ रहा है? वो तो दिखाई देती चीज़ को भी अनदेखा कर देना चाह रहा है, झुठला देना चाह रहा है। हम कह भी नहीं सकते कि वो देखने का इच्छुक है; वो तो अपने-आपको धोखा देने का इच्छुक है। तो पहली गलती हमसे ये होती है कि देखने वाला ही गलत है।

दूसरी गलती होती है कि जो देखने का हमारा उपकरण है वो अनुपयुक्त है। हमारे देखने का उपकरण, सब अनुभवों को ग्रहण करने का हमारा उपकरण है हमारी इंद्रियाँ; और इंद्रियाँ बहुत सीमित क्षेत्र में और बहुत बँधे-बँधाए तरीके से काम करती हैं। सत्य पूरा है, और इंद्रियाँ कभी पूरी चीज़ जान नहीं सकतीं। कान पूरी बात नहीं सुन सकते, आँख सब कुछ देख नहीं सकती, मन सब कुछ याद नहीं रख सकता, बुद्धि कभी पूर्ण विवेचना नहीं कर सकती। तन हर जगह मौजूद नहीं हो सकता, तन हर समय मौजूद नहीं हो सकता। तो शरीर के जितने भी उपकरण हैं संसार को देखने-परखने और संसारगत अनुभवों को ग्रहण करने के, वो ज़बरदस्त तरीके से सीमित और अपूर्ण हैं।

तो देखने वाला गलत, देखने का उसका उपकरण सीमित, अनुपयुक्त, और जिस विषय को वो देख रहा है उस विषय को मैं कह रहा हूँ छलावा है, छद्म है; क्योंकि जो विषय देखा जा रहा है वो विषय भी देखने वाले से ही सम्बंधित है। आप सब कुछ तो नहीं देखते न? आपको क्या देखना है इसका आप पूरा चुनाव करके देखते हैं। कभी आपको अनायास, संयोगवश कुछ अनचाहा, अनियोजित दिखाई भी दे जाए, तो उसको अर्थ तो आप अपने अनुसार ही देते हैं न? तो जो दिखाई दे रहा है वो आपकी प्रतिछवि है। आप ही गलत हैं, तो आपकी छवि ठीक कैसे हो सकती है?

तो तीनों तलों पर गलती होती है। इन तीनों गलतियों को मिलाकर के जो निकलता है उसको माया कहते हैं। तो हम तो पूरे तरीके से माया के शिकंजे में रहते हैं, हम माया के दास हैं; और सत्य को यहाँ कहा जा रहा है मायापति। आशय क्या है? आशय है बीमार मन को ये बताना, “तेरा सिद्धांत गलत है; तेरा सिद्धांत है कि तू ही बड़ा होशियार है, तेरा सिद्धांत है कि तुझसे ऊपर कोई नहीं।“

मन ऐसा है कि अगर वो झुकता भी है तो ये वो स्वयं ही चुनता है कि किसके सामने झुकना है; ये झुकना भी कोई झुकना हुआ? मन अगर किसी ईश्वर को सर्वोपरि और सार्वभौम भी मानता है तो उस ईश्वर की रचना वो स्वयं करता है। अब ये ईश्वर बड़ा हुआ या मन? मन अपने-आपको सबसे बड़ा ही मानता है। प्रमाण इसका ये है कि मन जिस किसी को, बाहर वाले को, अपने से किसी अलग इकाई को बहुत बड़ा माने भी, तो उस इकाई का चयन वो स्वयं ही करता है।

मन कहेगा, "मैं अपने देवता के सामने या अपने नेता के सामने झुकता हूँ, पर मेरा नेता कैसा होगा ये तो मैं तय करूँगा। और मेरा नेता अगर मेरी अपेक्षाओं के अनुरूप नहीं है, मेरा देवता अगर मेरी प्रार्थनाएँ नहीं सुन रहा, मेरी माँगें नहीं पूरी कर रहा, तो मैं उससे विमुख हो जाऊँगा।" तो मन जब किसी को अपने-आपसे बड़ा भी कहता है तो भी पीछे-पीछे, चोरी-छुपे मन की धारणा यही होती है कि मैं सबसे ऊपर हूँ; उसी धारणा को उपनिषद् चुनौती दे रहा है।

उपनिषद् कहता है मन से, “तुम अपने-आपको सबसे ऊपर मानते हो, लेकिन वास्तविकता देखो। तुम जिसके गुलाम हो, कोई और है जो उससे ऊपर है।“ कौन है जो उससे ऊपर है? वो कोई व्यक्ति, कोई इकाई, कोई वस्तु तो हो नहीं सकता। मन को फिर बताया क्या जा रहा है? मन को बताया ये जा रहा है कि, “तुम जहाँ पर हो, तुम वहीं बैठे-बैठे अपने-आपको बड़ा सूरमा माने बैठे हो, लेकिन तुम्हारी संभावना, तुम्हारी सत्यता कुछ और है।“

एक तल है माया; अनंत ऊँचाई नहीं है माया। एक सीमित तल है माया, और तुम उससे नीचे हो; उससे ऊपर जाया जा सकता है, माया का दास होने की जगह माया का स्वामी हुआ जा सकता है। और माया का स्वामी जो हो गया, मात्र वही है नमन करने योग्य; उसी का नाम सत्य, उसी का नाम परमात्मा है। और वो तुम नहीं हो, क्योंकि तुम अपनी वास्तविकता देखो, तुम तो दिन-रात माया से मार खाते हो। तुम्हारे लिए करने को अभी बहुत कुछ शेष है। उपनिषद् चुनौती दे रहा है, उपनिषद् कह रहा है कि, “बहुत नीचे बैठे हो तुम, पर बहुत ऊपर हो सकते हो।“

पहली बात मानो कि तुम नीचे हो; ये मानना ही तुम्हारे लिए बड़ा मुश्किल है, तुम्हारी धारणा ये है कि तुम्हीं तीस-मार खाँ हो। ना, तुम तो बहुत सीमित, संकुचित, क्षुद्र इकाई हो एक; लेकिन सीमित, संकुचित, क्षुद्र रहे आना तुम्हारी नियति नहीं है। जो आज माया का बंधक है वो कल मायापति हो सकता है; जो माया का बंधक है, ठीक उसी के भीतर संभावना बैठी हुई है मायापति हो जाने की। लेकिन वो संभावना तब तक साकार नहीं होगी जब तक तुम अपनी झूठी धारणा को पीछे नहीं छोड़ देते।

(श्लोक पढ़ते हुए) "वो अपनी शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है।"

“तुम अपनी हालत देखो;” जिसे सम्बोधित कर रहे हैं उपनिषद्, उससे कह रहे हैं कि, “तुम अपनी हालत देखो, तुम लगातार शासित ही शासित हो। कुछ भी होता है, कोई भी आता है और वो तुम पर हावी हो जाता है, कम-से-कम तुम्हें प्रभावित तो कर ही देता है। लेकिन क्या तुम इस स्थिति से संतुष्ट हो? अगर सन्तुष्ट होते तुम, तो तुम्हें उपनिषदों के पास आने की ज़रूरत पड़ती नहीं। ये स्थिति तुम्हें कुछ भा तो नहीं रही। शासित बने बैठे हो तुम, जबकि शासक हो जाने की योग्यता है तुम्हारी; शासक हो जाना मात्र योग्यता नहीं है तुम्हारी, अधिकार है तुम्हारा, नियति है तुम्हारी, तुम्हें शासक होना ही चाहिए। प्रमाण ये, कारण ये, कि शासक हुए बिना तुम चैन तो पाओगे नहीं। लेकिन अभी देखो, जितने भी लोक हैं—सिर्फ पृथ्वी लोक ही नहीं, जितने मानसिक लोक भी हैं—उनकी कोई भी घटना, छोटी-बड़ी, तुमको विचलित कर जाती है।“

और ठीक उसके विपरीत कहा जा रहा है कि कोई है ऐसा जो त्रिभुवन का स्वामी है, जो त्रिलोक का स्वामी है, जो सब लोकों का शासक है। जैसे मन को जगाया जा रहा हो, जैसे मन को कोई बहुत भूली-बिसरी, पुरानी बात याद दिलाई जा रही हो। मन की ये धारणा तोड़ी जा रही है कि, "मैं क्या करूँ? मुझे तो ऐसे ही रहना है। और मेरा ऊँचा-से-ऊँचा काम ये हो सकता है, आकांक्षा ये हो सकती है, प्राप्ति ये हो सकती है कि मैं अपने सीमित घेरे में ही कोई छोटी-मोटी उपलब्धियाँ अर्जित कर लूँ।" ना, मन से कहा जा रहा है कि, “ये छोटी-मोटी उपलब्धियाँ जिनके पीछे तुम भागते रहते हो, तुम इनके लिए नहीं बने हो, इनसे तुमको चैन नहीं मिल जाना है। तुम तब तक शांत नहीं हो पाओगे, तुम्हें भीतर की खलबली से मुक्ति तब तक नहीं मिलेगी जब तक तुम तीनों ही लोकों के शासक नहीं हो जाते।“

तात्पर्य क्या है? तीनों ही लोकों का शासक कोई कैसे हो सकता है? तात्पर्य ये है कि तुम भीतर से ऐसे हो जाओ कि कहीं घटती कोई भी घटना, किसी भी तल की घटना, किसी भी तरह की घटना तुम्हें तुम्हारे केंद्र से कम्पित ना कर पाए। जिसको कोई उसके सिंघासन से उतार नहीं सकता वो कौन होगा? शासक ही तो हुआ। कुछ होता रहे दुनिया में, तुम्हारे पास कुछ ऐसा है जो हिलेगा-डुलेगा नहीं, जिसमें किसी भी तरह के विचलन

का, आलोड़न का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। जिसके इर्द-गिर्द तमाम गतिविधियाँ चल रही हैं, लेकिन जिसके पास कुछ ऐसा है जो किसी भी गतिविधि से, किसी भी लालच से, किसी भी डर से, किसी भी जन्म से, किसी भी मृत्यु से, किसी भी प्राप्ति से, किसी भी हानि से ज़रा भी शंकित नहीं होता, कम्पित नहीं होता। जिसको अपना मौन इतना प्यारा है कि वो आँख खोलना ही नहीं चाहता, आवाज़ करना ही नहीं चाहता, वो हो तुम। और जो ऐसा है, वो शासक है सब जगहों का, क्योंकि सब जगहें मिलकर भी असमर्थ हैं उसे उसके केंद्र से विमुख करने में।

आध्यात्मिक अर्थ में राजा होने का, स्वामी होने का या शासक होने का अर्थ ये नहीं है कि तुम अपनी सत्ता, अपनी आज्ञा, अपनी हुकूमत चलाओगे; वो अर्थ बहुत सांसारिक होता है। संसार में जब कोई राजा होता है तो उसको पहचाना जाता है इस बात से कि कितने लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं; ये बहुत सक्रिय तरह का सत्ता-प्रदर्शन हो गया। आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन ऐसे नहीं होता; आध्यात्मिक शक्ति चुपचाप, शांत, निष्क्रिय मौन में अपने-आपको अभिव्यक्त करती है।

> आध्यात्मिक शक्ति अभिव्यक्त होती है अकम्प रह जाने में, अटूट रह जाने में, अविचलित रह जाने में, अस्पर्शित रह जाने में।

ये सारे शब्द देख रहे हो, ये नकार के हैं। संसार ये सब कुछ करना चाहता है तुम्हारे साथ- तुम पर दाग-धब्बे लगा देना चाहता है, तो आध्यात्मिक शक्ति होती है निरंजन रह जाने में। संसार चाहता है तुमको रंजित कर दे; तुम स्वच्छ, निर्मल, निरंजन रह गए। संसार चाहता है कि तुम जहाँ केंद्रित हो वहाँ से उठाकर के तुमको कहीं और बैठा दे; ना, तुम अपनी जगह पर स्थिर रह गए, हिले-डुले नहीं। संसार चाहता है कि तुम्हारी जो डोर है आस्था की, तुम्हारी जो तंद्रा है ध्यान की, उसको तोड़ दे; तुम अटूट रह गए।

ये सब लक्षण होते हैं आध्यात्मिक शासक के। वो सच्चा शासक है, उसे इसमें रुचि नहीं है कि दूसरे उसकी आज्ञा का पालन करें, दूसरों का यथार्थ वो कब का समझ चुका। वो भली-भाँति जान गया है कि जिन्हें अपने को लेकर शंका होती है वही दूसरों पर सत्ता चलाने के बड़े आकांक्षी होते हैं। तो दूसरों पर किसी तरह का अनुशासन करने की उसकी अब अभिलाषा नहीं, वो तो बस अपने भीतर की गुफ़ा में अटूट ध्यान में बैठ गया है। उसका दम, उसकी शक्ति प्रदर्शित होती है उसके अविचलित रह जाने में; अविरल है उसका मौन।

तुमसे कहा जा रहा है उपनिषद् के द्वारा, कि, “ऐसे हो सकते हो तुम, और कितने खेद की बात है कि ऐसे नहीं हो तुम। और उससे भी ज़्यादा खेद की बात है कि जैसे बने बैठे हो तुम, उससे तुमने एक तरह की झूठी संतुष्टि भी पाल ली है।“ ये जो झूठी संतुष्टि है,

इस पर आक्रमण कर रहा है उपनिषद्। उपनिषद् कह रहा है कि ऐसे ही नहीं रहे आना है।

अर्थ का अनर्थ मत कर लेना। ये श्लोक हमें ये बताने के लिए नहीं है कि कोई और है जो मायापति है, कि कोई और है जो शासक है। कोई और है जो मायापति है, कोई और है जो शासक है तो फिर हमें तो बड़ी सुविधा हो गई; हम माया के बंधक, हमें पता चल गया, उपनिषद् द्वारा सत्यापित हो गया कि हमें तो ऐसे ही रहे आना है, यही भाग्य है हमारा; हम दुनिया भर से प्रताड़ित, हम हर छोटी-बड़ी चीज़ से प्रभावित, और हमें पता चल गया कि दुनिया पर राज करने वाला कोई और है। फिर हमें बड़ी सुविधा हो गई, हमने कहा कि, "ये तो हम जानते ही थे। हम तो जो अधिक-से-अधिक, ऊँचे-से-ऊँचे हो सकते हैं वो तो हम पहले ही हैं।" तुम समझ रहे हो?

ये कितने दुर्भाग्य की बात होती है जब तुम अपनी एक निम्न-स्तरीय अवस्था में भी संतुष्ट हो जाते हो, जब तुम कहना शुरू कर देते हो, "मैं जैसा हूँ, बड़ी मेहनत से पहुँचा हूँ यहाँ पर। मैं जैसा हूँ, यहाँ पहुँचना भी बच्चों का खेल नहीं। मैं जैसा हूँ, सम्मान का अधिकारी हूँ।" उपनिषद् तुमसे कह रहा है कि, "तुम सम्मान के अधिकारी ज़रूर हो, पर इसलिए नहीं कि अभी तुम किसी बहुत अच्छी हालत में हो; तुम सम्मान के अधिकारी इसलिए हो क्योंकि तुम उच्चतम स्थान के अधिकारी हो। सिर्फ वो जो उच्चतम स्थान है, उसी पर सम्मान है। उससे नीचे अगर तुम कहीं हो, और नीचे होते हुए भी अपने-आपको सम्मानित माने बैठे हो, तो ये तुम्हारा बड़ा अभाग है।"

तो ये दोनों बातें साथ समझना: तुम्हें ऊँचे-से-ऊँचा सम्मान भी दिया जा रहा है, और साथ-ही-साथ ये भी बताया जा रहा है कि, "क्यों व्यर्थ अपने-आपको सम्मानित किए बैठे हो?" इन दोनों बातों को एक-साथ समझना होता है। अध्यात्म हमें उच्चतम सम्मान भी देता है और कटुतम अपमान भी करता है हमारा।

अध्यात्म हमारे प्रति ये दोतरफ़ा रवैया क्यों रखता है? क्योंकि भाई, हम दो हैं। हम दो हैं; तो जो हम दो हैं, उन दो को अलग-अलग तरीके से सम्बोधित किया जाता है। पशु से पशुतर हम हैं, न्यून से न्यूनतर हम हैं, क्षुद्र से क्षुद्रतर हम हैं, और उच्च से उच्चतर भी हम ही हैं। शुद्ध से शुद्धतर भी हम ही हैं, बुद्ध से बुद्धतर भी हम ही हैं; अजीब संगम है मनुष्य।

बार-बार मैं कहा करता हूँ न, कि मिट्टी और आकाश जब एक हो जाते हैं किसी जादू से तो जो प्रकट होता है उसे मनुष्य कहते हैं? तन उसका मिट्टी का है, चेतना उसकी आकाश से प्रेम करती है।

वो चेतना जब मानने लग जाती है कि मिट्टी बने रहना ही उसकी किस्मत है तो उपनिषद् धिक्कारते हैं उसको। उपनिषदों से ज़्यादा कटु तरीके से, कठोर तरीके से, तिक्त तरीके से हमें कोई नहीं धिक्कारता, और उपनिषदों से ज़्यादा गरिमा हमें कोई नहीं देता; उपनिषदों से ज़्यादा कोई नहीं बताता हमें कि कितनी ऊँची महिमा है हमारी। हम दो हैं, दोनों तरह का सम्बोधन हमारे लिए ज़रूरी है।

आत्मा: दस सवाल, अंतिम जवाब

प्रश्नकर्ता: मेरे पिताजी का देहांत हुआ अगस्त में, तो प्रथानुसार १३ दिन का कार्यक्रम हुआ, गरुड़ पुराण का पाठ हुआ ताकि पापा की आत्मा को मुक्ति मिल सके। गरुड़ पुराण में बोला है कि हमारे कई कर्म करने से आत्मा कहीं-कहीं तो जाती है, पंडितों को दान और भोज देने पर बहुत ज़ोर दिया जाता है, कपड़े, सोना-चांदी, गाय, यहाँ तक कि पलंग और चद्दर भी देना होता है। ना देने पर पाप लगने की बात है, कहीं पर तो यहाँ तक बोला है कि गर्म तेल में उबाला जाएगा।

मेरे भाई ने यह सब देखने के बाद कहा कि ज़रूर ये वाला पुराण किसी ने इसलिए लिखा है ताकि उसके वंशजों की आजीविका का परमानेंट इंतज़ाम हो जाए।

आचार्य जी, इन १३ दिनों के कार्यक्रम का क्या महत्व है, कैसे कोई और किसी की आत्मा को मुक्ति दिला सकता है?

आचार्य प्रशांत: आप जानती ही हैं मेरा इस विषय में क्या कहना है, मुझसे बुलवा कर परेशानी में डालेंगी।

आचार्य: उन्हें भी पता है।

वैसे ही बदनाम हूँ कि ये ख़राब किए दे रहा है हमारे धर्म को!

देखिए, फिर, मूलभूत बात जो बहुत सीधी है, साफ़ है, एकदम सरल; सच दो नहीं होते न? – एक-एक कदम पर चलेंगे – सच दो तो नहीं होते, सत्य एक होता है, ठीक।

वैदिक धर्म है आपका, वैदिक धर्म है न? वैदिक सत्य वेदान्त में है। उसे वेदान्त नाम मैंने नहीं दिया है। स्वयं वेद उसे वेदान्त बोलता है। स्वयं वेद कहते हैं कि हमारा शिखर वेदान्त है। उपनिषद् वेद ही हैं, वेदों से भिन्न नहीं हैं। वेदों में ही जो उच्चतम ज्ञान की बाते हैं, उन्हें उपनिषद् कहा जाता है। मोटे तौर पर समझाने के लिए कह रहा हूँ।

हम अगर कहते हैं कि वेदों में सत्य है तो माने उपनिषदों में सत्य है, ठीक? क्योंकि वेद स्वयं कहते हैं कि उपनिषदों से ऊँचा कुछ नहीं। उपनिषदों में सत्य है, और सत्य दो होते नहीं।

एक-एक कदम साथ चल रहे हैं?

उपनिषदों में सत्य है, सत्य दो होते नहीं, तो आपको अगर कोई धार्मिक बात ऐसी मिलती है जो उपनिषदों के विरुद्ध जाती है तो तत्काल उसको क्या मान लेना है? असत्य ही है न? या ये कहेंगे कि 'ये बात भी ठीक है, लेकिन यह बात भी तो ठीक है!' – ऐसे चलेगा क्या? यह कोई बात नहीं है, सत्य कोई बात नहीं होती।

आत्मा के भटकने और आत्मा के इधर-उधर डोलने का अर्थ क्या है जब आत्मा अनंत है, अचल है? ना उसका जन्म है, ना मृत्यु है, तो वो कैसे यहाँ आ जाएगी, वहाँ चली जाएगी? जो चीज़ अनंत है वो कहीं प्रवेश कैसे कर जाएगी? जिसके ना अंदर कुछ है ना बाहर कुछ है, वो किसी शरीर के अंदर कैसे पायी जाएगी? जिसकी कोई सीमा ही नहीं, वो संसार की सीमाओं में कैसे आ जाएगी? उसकी आप बात कैसे कर लेंगे, वो चीज़ मन की सीमाओं में कैसे आ जाएगी? आत्मा के बारे में आपने इतनी कहानियाँ उड़ा कैसे दीं जब वो असीम-अनंत है तो?

भारत के पतन का कारण अगर मुझसे कोई पूछे कि एक बताइए तो मैं कहूँगा 'आत्मा' शब्द का दुरुपयोग। अगर हम एक जागृत समाज होते तो आत्मा शब्द के दुरुपयोग पर दंड निर्धारित होना चाहिए था। और आत्मा को लेकर जो किस्से-कहानियाँ बनाए उन्हें सीधे-सीधे अपराधी घोषित किया जाना चाहिए था। क्योंकि आत्मा ही आपकी आख़िरी संभावना है, आत्मा ही आपको बचा सकती है। उसी के लिए आप जी रहे हो, और अगर किसी ने उसे ही दूषित और भ्रष्ट कर दिया तो फिर अब आपके लिए बचा क्या? सब नष्ट हो गया न? अगर आपके मन में आत्मा को ही ले करके भ्रामक सिद्धांत डाल दिए गए हैं तो आप जियोगे कैसे?

ये तो ऐसी सी बात हो गई कि जो मरीज़ के लिए आख़िरी और सबसे ऊँची दवाई हो सकती थी, बिलकुल रामबाण, वो भी बेअसर कर दी गई।

आत्मा सोल नहीं होती। जहाँ कहीं भी आप आत्मा के साथ सोल , रूह आदि पढ़ें, जान लीजिएगा कि मामला बहुत बहका हुआ है। जहाँ कहीं भी आप इस तरह की कोई बात पढ़ें कि आत्मा का गमन-आवागमन हो रहा है, वहाँ भी जान लीजिएगा कि या तो समझे नहीं हैं या भटका रहे हैं।

सबकुछ ही तो आवत-जावत है इस दुनिया में, आपने आत्मा को भी वैसा ही बना डाला? सबकुछ ही तो परिवर्तनशील है इस दुनिया में, आपने आत्मा को भी वैसा ही बना डाला? तो अब आत्मा आपके किस काम की बची अगर वो चीज़ भी सांसारिक हो गयी तो? ले-देकर के यह मटीरिअलिस्म (भौतिकवाद) ही है कि आप आत्मा को भी मटिरीअल (सामग्री) के गुणों से आरोपित कर दें।

जो काम पदार्थ करता है, जो काम भौतिक होता है वो सारे काम अगर आप आत्मा से भी करवाने लग जाएँ तो यह आपने क्या करा है? ये आपने आत्मा को भी मटिरीअल ही बना दिया न? क्यों बना दिया? क्योंकि हम ऐसे लोग हैं जिन्हें मटिरीअल की, पदार्थ की बड़ी लिप्सा रहती है। और हम ऐसे अहंकारी हैं जो मानने को तैयार ही नहीं होते हैं कि पदार्थ से हटकर कुछ हो सकता है।

तो हमने आत्मा के आयाम को भी भौतिक बना डाला, हमने आत्मा को भी खींचकर इस दुनिया में ही डाल दिया कि आत्मा ऐसी होती है, पेड़ पर चढ़ जाती है, पेट में घुस जाती है, फ़लाने लोक में चली जाती है, ऐसा करती है, वैसा करती है – यह सब काम कहाँ होते हैं? यह सब काम लौकिक हैं, ये सब काम मटिरीअल हैं। आपने आत्मा को ही मटिरीअल बना दिया! भूलिए नहीं कि जो भौतिक है, मटिरीअल है वही तो आपका दुःख है। आत्मा, जो आनंददायिनी होती, आपने उसको भी दुखदायिनी बना लिया अपने लिए? आत्मा को मटिरीअलाइज़ करके आप आत्मा को भी अपने लिए दुःख का स्रोत बना रहे हो न?

आत्मा कोई चीज़ नहीं है। चीज़ें आती-जाती हैं।

आत्मा अचिंत्य है। ये तो भूल जाओ कि वो कोई चीज़ नहीं है, वो इतनी दूसरी बात है कि उसके विषय में तुम कल्पना नहीं कर सकते, कुछ कह नहीं सकते, सुन नहीं सकते, बोल नहीं सकते – यही उपनिषदों का कथन है। और तुम एक-के-बाद-एक कहानियाँ सुना रहे हो – आत्मा अब ऐसे निकलेगी, यह करेगी, फ़लाने दिन निकलेगी, फ़लाना करेगी, अब चावल डाल दो आत्मा में, ये करो, वो करो – जो कुछ भी होता है।

आत्मा आत्मा है। अंग्रेज़ी में उसके लिए कोई शब्द नहीं तो उसको कह देते हैं सेल्फ़ ; सोल नहीं है।

और बहुत भ्रम फैलाया गया है, कितने ही अनुवाद हैं जिसमें जहाँ आत्मा लिखा होता है तो नीचे लिख देते हैं *सोल*। और फिर कहने लग जाते हैं, '*ट्रांस-माइग्रेशन ऑफ द सोल*' (आत्मा का स्थान-परिवर्तन) वगैरह-वगैरह, अब सौ तरह की...

रही बात पुराणों की, तो समझिएगा थोड़ा, पुराणों का यदि कोई युक्तिसंगत अर्थ हो सकता है वेदान्त के प्रकाश में तो उस वेदान्त-सम्मत अर्थ को ग्रहण किया जाना चाहिए। और यदि कोई पौराणिक बात है जो वेदान्त विरुद्ध जाती है तो उसको तत्काल त्याग देना चाहिए। पुराण केंद्रीय नहीं हैं। आप ये थोड़े ही बोलते हो कि आपका धर्म पौराणिक है। सामान्य ज्ञान की बात है कि आप वैदिक लोग हैं। और भारत का बहुत नुकसान हुआ है पुराणवादी बनकर। मुझे पुराणों से कोई समस्या नहीं है, भागवत पुराण पर तो मैंने पूरा एक कोर्स (पाठ्यक्रम) पढ़ाया है। पर पुराणों की भी सम्यक व्याख्या करने के लिए पहले

आपको वेदान्त का ज्ञान होना चाहिए, तब आपको समझ में आएगा कि उन कहानियों का असली अर्थ क्या है। और सब कहानियों का अर्थ हो ऐसा भी ज़रूरी नहीं है, बहुत सारी कहानियाँ हैं जो बिलकुल अर्थहीन हैं; उनको हटाइए।

क्या तय करेगा, कैसे निर्धारित करें कि कहाँ अर्थ है कहा नहीं, क्या रखें, क्या हटाएँ? वेदान्त पैमाना है। श्रुति का अर्थ पुराण नहीं होता। जो कुछ श्रुति-सम्मत हो वो रखा जाएगा, बाकि सब त्याज्य है।

कितना बलहीन कर दिया हमने सनातन धर्म को यही सब कर्मकांड कर-करके! हम से ज़्यादा गुड ग्राहक तो पश्चिम के लोग निकले। उन्होंने भारत से वेदान्त ले लिया है, और वो भी विशुद्ध अद्वैत वेदान्त। नॉन डूऐलिटी (अद्वैत) पश्चिम में बहुत सम्माननीय और बहुत गंभीर चीज़ है, और भारत की बाकि चीज़ों की ओर वो देखते नहीं। वो कहते हैं, 'मक्खन-मक्खन हमने ले लिया, बाकि तुम रखे रहो। तुम्हारे पूरे धर्म में जो एक काम की चीज़ है वेदान्त, जो अमर है, जो उच्चतम है वो हमने ले ली। बाकि तुम रखे रहो, अपने कर्मकांड, अपनी परंपराएँ, अपने खोखले विश्वास, तुम रखे रहो इनको।' और हम वो सब रखे हुए हैं।

जैसे आसाम के चाय के बागानों की जो उत्कृष्टतम पत्तियाँ हैं वो निर्यात कर दी जाती हैं और जो कुछ जला हुआ माल है वो हमारे पास आ जाता है चाय बनकर, ठीक वैसा ही धर्म में भी हो रहा है। जो उच्चतम है उसे विश्व ने ग्रहण कर लिया, और बाकि ये सब कि दूध कैसे चढ़ाना है, चावल कैसे लगाना है, यह हम रखकर बैठे हुए हैं।

और बहुत सम्मान देता है पूरा विश्व वेदान्त को, विशेषकर अद्वैत को। आप ये सब बताएँगे कि ब्राह्मण को कैसे दान देना चाहिए और कितने बोरे अनाज देना चाहिए, और साइकल भी देनी चाहिए और चारपाई भी देनी चाहिए तो दुनिया बहुत हँसेगी। और सही है कि हँसेगी, क्योंकि यह कोई धर्म की बात है? यह कोई धर्म विषयक चर्चा हुई? लकड़ी कितनी रखें, नारियल का मुँह किस दिशा होना चाहिए, केला कितना पका हो, कितना कच्चा हो – इन बातों का धर्म से क्या सम्बन्ध?

लेकिन हम डरे हुए लोग हैं – ये चीज़ें जिंदा क्यों हैं समझिए – हम डरे हुए लोग हैं। जब आप डरे हुए होते हो न तो आप कोई स्पष्ट निर्णय नहीं ले सकते।

मेरे सामने ये रखा है (मग दिखाते हुए) और ये रखा है (गिलास दिखाते हुए), ठीक? एक में अमृत है, एक में पानी है, मैं जानता नहीं क्योंकि मैं बोधहीन हूँ, मुझे कुछ पता नहीं। मुझे नहीं मालूम कहाँ अमृत है, कहाँ साधारण पानी है; मैं नहीं जानता। हाँ, मुझे इतना दिख रहा है कि इन दोनों में जो है वो अलग-अलग है। इसमें (गिलास में) जो है वो पारदर्शी है, इसमें (मग में) जो है मान लीजिए वो पीले रंग का है, लेकिन मैं कुछ

नहीं जानता कि किसमें क्या है – मैं नहीं जानता ये जो पारदर्शी चीज़ है ये क्या है; मैं नहीं जानता इसमें पीला पदार्थ क्या है। मैं कुछ नहीं जानता।

कोई आकर कहता है कि 'देखो भाई, अमृत तो दोनों में से कोई एक ही हो सकता है, और यह दोनों ही अमृत नहीं हैं क्योंकि दोनों अलग-अलग हैं – तो दोनों में से कोई एक है। एक काम करो, एक को फेंक दो।' मैं कुछ नहीं जानता, मैं क्या करूँगा? मैं कुछ नहीं फेंकूँगा, में दोनों को रखे रहूँगा – यह भारत ने करा है।

चूँकि हम जानते ही नहीं, इसीलिए हम कुछ भी त्याग नहीं पा रहे हैं। हम पुराने सड़े-गले, रूढ़ि-रिवाज़ और कर्मकांड नहीं त्याग पा रहे क्योंकि हम जानते ही नहीं हैं कि सच क्या है। हम सच जान जाएँ तो तुरंत अमृत को कंठ से लगा लेंगे और जो साधारण है, त्याज्य है उसको छोड़ देंगे।

पर जब कुछ नहीं पता होता तो इंसान जानते हो क्या बोलता है? – 'रिस्क (जोखिम) कौन ले? अगर मैंने ये चीज़ छोड़ दी और यही अमृत निकली तो? मैंने पौराणिक कर्मकांड छोड़ दिया और वही अगर अमृत निकला तो? रिस्क कौन ले?' तो हम सबकुछ पकड़कर बैठे रहते हैं।

हम कहते हैं, 'कर लो न! सब करते हैं, तुम भी कर लो – बाल मुंडा लो। क्या पता बाल ना मुंडाने से कुछ श्राप लग ही जाता हो। रिस्क कौन ले?'

जो जान जाएगा कि इन दोनों (गिलास और मग) में भेद है, और अमृत इनमें से एक में है वो एक को रखेगा, दूसरे को छोड़ेगा। और मैं दूसरे को छोड़ने के लिए कुछ बलात् नहीं कह रहा हूँ आपसे। पुराणों में भी बहुत हीरे-मोती हैं, और उनकी कथाओं का अर्थ इतना सुंदर और इतना गहरा जाता है कई बार कि मन आनंदित हो जाता है एकदम। लेकिन देखिए, उन कथाओं का भी अर्थ वह नहीं होता जो आपके सब कथा-वाचक वगैरह सुना रहे होते हैं। भागवत पुराण का भी हमने बड़ा शोषण किया है, बड़ा अन्याय किया है उसके साथ। यही काम हमने शिव पुराण के साथ किया है।

तो उपनिषदों को लेकर के मेरी सलाह स्पष्ट है – उपनिषदों की जो कथाएँ वेदान्त सम्मत हैं, उनको रखो, उनका बड़ा मूल्य है, और वो मीठी हैं क्योंकि कथाओं के माध्यम से बात ज़्यादा आसानी से समझ में आती है। तो वेदान्त के सिद्धांतों को यदि कथा रूप में समझाया जा रहा हो तो ये बहुत अच्छी बात है। लेकिन साथ ही मैं यह भी कह रहा हूँ कि पुराणों में और दूसरे अन्य जो ग्रंथ हैं हिन्दुओं के, उनमें बहुत कुछ ऐसा है जिसकी कोई उपयोगिता नहीं। उसको आज छोड़ दो क्योंकि वो बात आपको भटकाएगी उससे जो वेदों का अमृत है।

अमृत और विष को एक साथ नहीं पिया जा सकता। वेदों के मूल ज्ञान को और इधर-उधर के छोटे-मोटे ग्रंथों को एक साथ नहीं लिया जा सकता, खासतौर पर तब जबकि वो जो दूसरे ग्रंथ हैं वह वेदों के विरोध में ही खड़े हों।

उपनिषदों ने सिखाया – आपका एक धर्म है, उसका नाम है आत्मा; जात है आपकी अजात, धर्म है आपका आत्म। कोई आपको मिल गई है किताब जिसको आप कहते हो 'यह हम हिंदुओं की किताब है' और वो आपको जात-पात, ऊँच-नीच, भेदभाव सिखा रही है तो वो सीधे-सीधे उपनिषदों का खंडन कर रही है न? उस किताब को आप स्वीकार करोगे?

वेदों का अपमान करना हो तो इधर-उधर की व्यर्थ किताबों को स्वीकार करो।

और इतना पुराना आपका धर्म है, विषद उसका वांगमय है। अफ़गानिस्तान से लेकर के मलेशिया तक फैला हुआ था – और आगे तक बल्कि। इतने काल तक और इतने भौगोलिक विस्तार में लोगों ने अपनी-अपनी बातें कहीं, किताबें लिखीं। ज़ाहिर-सी बात है वो सारी बातें एक ही स्तर की नहीं हो सकतीं, और वो सारी बातें केंद्रीय नहीं हो सकतीं। कोई परंपरा जो इतनी पुरानी है, उसमें तो हज़ारों ग्रंथ लिखे गए होंगे। वो सारे ही ग्रंथ मार्मिक नहीं हो सकते, सत्यनिष्ठ नहीं हो सकते, केंद्रीय नहीं हो सकते।

यह बहुत घातक किस्म का उदारवाद है कि मैं या तो कुछ पढ़ूँगा ही नहीं या पढ़ूँगा तो अपने पसंद की किताब पढ़ूँगा। हम इसको अध्यात्म में भी लगा रहे हैं। मैं या तो पढ़ूँगा ही नहीं या अपने हिसाब से मुझे कुछ मिल गया, मैं वो पढ़ लूँगा, और कह दूँगा यही तो धर्म है – ये हम हिंदुओं के शास्त्र हैं। हर पुस्तक को शास्त्र नहीं बोल देते।

एक और चीज़ है इसमें, उसका उल्लेख आवश्यक है – संस्कृत भाषा भारत में कभी जन सामान्य की भाषा नहीं बनी, वो ब्राह्मणों के वर्चस्व में रही। और वो धर्म की भाषा थी, अध्यात्म की भाषा थी, और आम भारतीय धर्म-भीरू था, वह धर्म को लेकर के डरता था और संस्कृत जानता नहीं था। तो नतीजा यह हुआ कि कोई भी बात अगर संस्कृत में उससे बोल दी गयी तो उसको यही लगा कि ये बड़ी बात है, धार्मिक बात है, इसका सम्मान किया जाना चाहिए; उसने तुरंत हाथ जोड़ दिया।

आज भी ये आप प्रयोग करके देख लीजिए – आप कहीं गाँव-गँवाई में चले जाइए, बहुत साधारण-सी बात अब संस्कृत में बोल दीजिए, लोग ऐसे (हाथ जोड़कर) नमस्कार कर देंगे। यहाँ तक कि आप संस्कृत में कोई अपशब्द भी बोल दीजिए, लोग तो भी कहेंगे – 'जी, जी, जय राम जी।' तो संस्कृत में जो भी किताब लिखी गई, लोगों को लगा वो सब किताबें एक बराबर हैं क्योंकि संस्कृत में हैं।

अरे भाई, संस्कृत एक भाषा है। उसमें आप कुछ भी लिख सकते हो। सिर्फ़ इसलिए कि कोई किताब संस्कृत में लिखी है, ऊँची नहीं हो जाती। संस्कृत में तो नाटक भी बहुत सारे लिखे गए हैं, क्या वो वेदों का स्थान ले लेंगे? बोलो!

संस्कृत में हर तरह का साहित्य लिखा गया है, वो उपनिषदों के बराबर हो जाएगा क्या? लेकिन चूँकि हम संस्कृत को जानते नहीं तो हमारे सामने संस्कृत में कुछ भी आ जाता है, हम उसे बोल देते हैं शास्त्र है। और फिर हम बोल देते हैं, 'हम तो देखिए बहुत उदारवादी लोग हैं न, सनातन मार्गी। हमारे हज़ारों शास्त्र हैं, हमारे करोड़ों देवी-देवता हैं।'

यह जो हज़ारों-करोड़ों वाली बात है, इसी ने हमें निस्तेज और बलहीन कर दिया, हमें कहीं का नहीं छोड़ा। सत्य जब एक है तो ये हज़ारों-करोड़ों की क्या बात है?

हज़ारों-करोड़ों तरह के झूठ हो सकते हैं, सच तो एक होता है न?

हाँ, उस एक की निकटता पा लो फिर ये हज़ारों-करोड़ों आपके लिए अर्थवान और जीवंत हो जाते हैं। लेकिन तब जब पहले उस एक की निकटता पाओ। एक की निकटता पाने के लिए वेदान्त चाहिए। वेदान्त को पा लो, फिर पुराण भी आपके लिए अर्थवान हो जाएँगे। वेदान्त कुंजी है जिससे बहुत सारी दूसरी किताबों के ताले भी खुल जाएँगे। कुंजी के बिना तालों पर सर फोड़ रहे हो, कौनसी बुद्धिमानी है?

मुझे इतना अफ़सोस होता है कि आम भारतीय के लिए धर्म का मतलब ही बस यही है – कितने दिये जलाने हैं, घी के जलाने हैं, तेल के जलाने हैं, वही कुट्टू का आटा और करवाचौथ, किस दिशा में मुँह करके सोना है, कौनसा दिन कौनसी देवी का, कौनसे देवता का होता है – बस यही है, उनसे आगे कुछ पूछो तो नहीं पता। बाहर जा रहे हो, दही चाटो। ये धर्म है? दही चाटने का धर्म से क्या लेना-देना? तो मेरा तो धर्म डूब ही गया, मैं तो वीगन (शुद्ध शाकाहारी) हो गया; ख़त्म।

फ़लाने सरोवर से जल लेकर के फ़लानी प्रतिमा पर चढ़ा दो, सारी कामनाएँ पूरी हो जाएँगी – ये धर्म है? और बिलकुल ठीक कहा आपने, किसी से पूछो, 'ये कैसे है?' तो बोलते हैं, 'ये हाइअर एनर्जीज़ होती हैं, अलग डाइमेंशन्स (आयाम) होते हैं जो आप नहीं समझ सकते।' जो कह रहे हैं 'आप नहीं समझ सकते' तो आप बताइए, आपने समझे हैं? आपने समझे हों तो समझाने की कोशिश तो करिए! आप कोशिश करके देखिए, शायद हम समझ जाएँ। या हम आपको इतने मूर्ख लगते हैं कि आपके समझाने पर भी नहीं समझेंगे?

‘नहीं, समझाया नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है – एक्सपिरियंस एक्सपिरियंस !‘

कोई प्रमाण आपने अनुभव किया है?

‘नहीं, प्रमाण कुछ नहीं; मैंने किया है, मेरी बात मानो।’ क्यों? ‘क्योंकि मैं महागुरु हूँ। मैंने किया है!’

और तुम मेरी बात मानो इसके लिए मैं तुम्हें तरह-तरह से इंप्रेस (प्रभावित) करूँगा ताकि तुम्हें लगे कि ये इतने इम्प्रेस्सिव (प्रभावशाली) आदमी हैं तो इनकी बात सही ही होगी। तो आप घर के बड़े-बूढों से भी ये सब बातें पूछेंगे तो वो आपको बहुत गुरु-गंभीर आवाज़ में जवाब देंगे।

‘देखो बेटा, होता है, समझोगे। हमने अनुभव किया है।‘

अनुभव तो आप कुछ भी कर सकते हैं। और जो कुछ अनुभव में आए, उसी को वेदान्त बताता है कि मिथ्या है।

जब अनुभोक्ता ही मिथ्या है तो अनुभव सत्य कैसे हो गए?

हो सकता है आपने अनुभव किया भी हो लेकिन आपके अनुभव करने से ही यह सिद्ध हो जाता है कि आपका अनुभव झूठा है क्योंकि सब अनुभव मिथ्या होते हैं। व्यावहारिक हो सकते हैं वो, पारमार्थिक नहीं हो सकते। कोई भी अनुभव सत्य नहीं होता। तो जो चीज़ आपके अनुभव में आ गई, वो तो अनुभव में आने मात्र से ही मिथ्या साबित हो गई।

धर्म जीवन में सबसे ऊँची चीज़ होना चाहिए न? कि बाकि जीवन एक तरफ़ और जो चीज़ जीवन में चेतना को खींच रही है ऊपर की तरफ़, एक आरोहण दे रही है उसको, एक पुल, एक ट्रैक्शन (कर्षण) उसे धर्म कहते हैं।

बृहस्पतिवार को उस्तरा नहीं चलेगा – ये धर्म है?

मासिक धर्म में देवता नाराज़ हो जाएँगे, मंदिर मत जाना – ये धर्म है?

उन दिनों में अचार में हाथ मत डाल देना – यह धर्म है?

नज़र लग गई है, भूत चढ़ गया है, माता चढ़ गईं हैं – यह धर्म है?

बलि देनी है – ये धर्म है?

ये अच्छे से समझिए, संस्कृति का धर्म से सम्बन्ध हो यह बिलकुल आवश्यक नहीं है क्योंकि संस्कृति में परंपराओं की बड़ी केन्द्रीय जगह होती है। हम चूक कर जाते हैं, हम संस्कृति को ही धर्म समझने लगते हैं, माने हम परंपराओं को ही धर्म समझने लगते हैं। परंपराओं का धर्म से कुछ सम्बन्ध हो भी सकता है, नहीं भी। जहाँ तक हमारी बात है, हमारी ९९% परंपराओं का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है और जिन १% परंपराओं का धर्म से कुछ सम्बन्ध है भी, उस सम्बन्ध को हम जानते नहीं। तो कुल मिलाकर हम परंपराओं के विषय में बिलकुल अंधे हैं। ९९% परम्पराएँ तो अभी त्याग दी जानी चाहिए। जो १% सम्माननीय हैं, पूजनीय हैं, जिन्हें सुरक्षित रखा जाना चाहिए उनका हम अर्थ नहीं जानते, उनका हम अंधानुकरण करते हैं।

बल्कि समय आ गया है जब नयी परम्पराएँ विकसित की जाएँ क्योंकि परम्पराएँ समय-सापेक्ष होती हैं। सत्य कालातीत होता है, काल निरपेक्ष। परंपरा, विश्वास, ये सब तो संस्कृति के साथ बदलते रहते हैं, कालबद्ध होते हैं। चार-हज़ार साल पुरानी या चार-सौ साल पुरानी परंपरा का आज क्या स्थान? आज तो यदि आपको धार्मिक जीवन जीना है, जो कि बहुत आवश्यक है धार्मिक जीवन जीना, तो आपको नयी परम्पराएँ विकसित करनी चाहिए।

बस हो गया न जो आप चाहती थीं? (मुस्कुराते हुए)

प्र: प्रणाम, आचार्य जी। आपने जैसा अभी बताया कि आत्मा का आवागमन नहीं होता और जैसा एक ब्राह्मण परिवार से आती हूँ तो ये चीज़ें – ‘आत्मा अंदर है, वो चली जाएगी तो मृत्यु हो जाएगी’ ये सब सुना हुआ है। तो अगर आत्मा का आवागमन नहीं होता तो वह क्या चीज़ है जो एक व्यक्ति को जीवित बनाती है और उसमें से या तो निकल जाती है या हट जाती है तो वही व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो जाता है? क्या वो चेतना है? वो क्या है?

शरीर ही जीता है, शरीर ही मरता है। शरीर की ही एक अवस्था को चैतन्य और जीवित अवस्था कहते हो, शरीर की ही दूसरी अवस्था को धूल कह देते हो।

वास्तव में जड़ और चेतन में, जीवित और मृत में कोई आयामगत भेद नहीं है। आप भूल ये करते हो कि सोचते हो कि जड़ एक चीज़ है, उसमें कुछ मिल जाएगा तो वो जीवित हो जाएगा। नहीं, जड़ ही जीवित है, जड़ ही चैतन्य है। ये जो धूल है, ये जीवित है।

आप जिसको मृत्यु कहते हो वो बस जीवन की एक दूसरी अवस्था मात्र है। हाँ, वो वैसी अवस्था नहीं है जैसी आप आमतौर पर देखते हो, वह वैसी अवस्था नहीं है जो अब आपके किसी उपयोग की रह गई है तो आप कह देते हो, ‘ये तो मृत है’, उसको जला देते हो। जो ज़िंदा है वो मरा हुआ है, जो मरा है वो ज़िंदा है, कुछ अलग कभी नहीं होता।

ऐसा नहीं होता कि भ्रूण में किसी विशेष पल प्राण आ जाते हैं। अन्न वीर्य बनता है, अन्न ही अंड बनता है और अन्न को आप क्या बोलते हो? कि ‘ये तो जड़ है।’ गेहूँ का दाना आप चैतन्य तो नहीं मानते। उसी से वीर्य बना, उसी से भ्रूण बना, उसी से जीव बना – वह सदा ही जीवित था। वो सूक्ष्मरूप से जीवित था। पर हमारी आँखें स्थूल को देख पाती हैं, तो हम कहते हैं ‘जीव तब आया जब गर्भ ठहरा।‘ नहीं, वह जीवित सदा से था। यूँही थोड़े ही उपनिषद् कहते हैं, “अन्नम ब्रह्म”। अन्न से चेतना है और चेतना को ही ब्रह्मगामी होना है, तो अन्न ही ब्रह्म है।

तो कुछ ऐसा नहीं है जो शरीर में घुस जाता है तो ज़िंदा हो जाओगे और शरीर से निकल जाएगा तो मर जाओगे। शरीर शरीर है। जैसे छोटा शरीर होता है, बड़ा शरीर होता है, वैसे ही ज़िंदा शरीर होता है, मुर्दा शरीर होता है। शरीर ही है, बस जिसको तुम मुर्दा बोलते हो वो बदबू मारेगा, चल-फिर नहीं सकता। भई, ये उसके गुण हैं। शरीर की हर अवस्था के अपने-अपने गुण होते हैं। शरीर की भ्रूण अवस्था के अपने गुण होते हैं, शरीर की बाल्यावस्था के अपने गुण होते हैं, किशोरावस्था के अपने गुण होते हैं, वृद्धावस्था के अपने गुण होते हैं, और शरीर की ही मृत अवस्था के अपने गुण होते हैं। हाँ, मृत अवस्था के गुण परिवार और समाज के लिए उपयोगी नहीं रह जाते हैं तो परिवार और समाज उस मृत शरीर को जला देता है।

अन्यथा शरीर शरीर है। वो पहले भी शरीर था, वो अभी भी शरीर है। पहले वह चेतना की एक स्थिति में था, अब वह चेतना की दूसरी स्थिति में है। मृत्यु चेतना का विपरीत नहीं है। जिसको तुम मृत्यु बोलते हो वो भी चेतना की एक स्थिति मात्र है। हम कहते हैं न कि चेतना की तीन स्थितियाँ होती हैं? एक दफ़े मैंने कहा था ‘नहीं-नहीं-नहीं, ऐसे मत बोलो कि तीन ही स्थितियाँ होती हैं। इसको ऐसे बोलो कि एक घर है, घर में तीन कमरे हैं। तीन कमरों के बाहर वहाँ एक बगीचा है और घर की चारदीवारी के बाहर पूरा एक संसार है। तो ये जो तीन कमरे हैं ये जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति हैं। इन तीन कमरों से बाहर लेकिन घर के ही अंदर जो बगीचा है उसको मृत्यु मानो। वो भी घर के अंदर ही है, और इन चारों से जो बाहर है उसको तुरीय मानो। वो वास्तव में पंचम हुआ, तुरीय नहीं, चौथा नहीं, पाँचवा हुआ।‘

चेतना की तीन नहीं, चार अवस्थाएँ मानो – जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, और मृत, वो भी एक अवस्था ही है। उसे अचेतन मत कहो या ऐसे कह दो कि अचेतन होना भी चेतना की

एक अवस्था है। इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण इस भेद को ही समाप्त कर देते हैं। वह कहते हैं, ‘तुम पुरुष को चैतन्य मानते हो।‘ वो कहते हैं, ‘पुरुष अलग है ही नहीं प्रकृति से।‘ वह पुरुष को कहते हैं, ‘वह पराप्रकृति है’ और जिसको तुम साधारण प्रकृति कहते हो जिसमें धूल, नदी, पहाड़ सबकुछ आ जाता है, उसको कहते हैं, ‘इसको तुम कह दो, ये अपराप्रकृति है।‘

वह जड़ और चेतन का अंतर ही मिटा देते हैं। वह कहते हैं, ‘एक ही आयाम है, उस आयाम पर तुम थोड़ा-सा पीछे हो तो कह दिया जाता है कि अचेतन हो या मृत हो या जड़ हो और उसी आयाम पर तुम थोड़ा आगे हो तो कह दिया जाता है कि तुम जीवित हो या चैतन्य हो।‘ कुछ बदल नहीं गया, ये अहंकार की बात है सोचना कि जो जीवित है वो मृत से वास्तव में आयामगत तरीके से भिन्न है। जीवित और मृत एक ही हैं। दीवारों के भी कान होते हैं, कण-कण में नारायण इसीलिए कहा गया है। चेतना हर जगह है, सबमें है। कहीं वो अपने पूर्ण प्रस्फुटन में है और कहीं वो प्रसुप्ति में है।

मृत्यु का अर्थ यही होता है कि चेतना जो पूर्णतया अभिव्यक्त हो रही थी वो एक दूसरी अवस्था में चली गई। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति चेतना की ही सोई हुई अवस्थाएँ होती हैं, ऐसे ही समझ लो और गहरी नींद को मृत्यु कहते हैं, वो भी एक अवस्था मात्र है।

तो कुछ निकलता या आता नहीं है भीतर कि तुम ज़िंदा हो जाओगे या मर जाओगे; शरीर ही ज़िंदा है, शरीर ही मुर्दा है। कुछ आया गया नहीं।

शरीर प्रकृति है, प्रकृति माँ है, चेतना उसका शिशु है। इसीलिए तंत्र में महामाया की पूजा होती है क्योंकि वो चेतना की माताजी हैं। माँ और बच्चे को भिन्न कैसे बोलोगे जबकि वो दोनों एक साथ रहते हों? क्या शरीर के बिना चेतना हो सकती है?

यह स्पष्ट हो रहा है? क्या नहीं हो रहा है?

जब आप सो जाते हैं तो कुछ पृथक होता है क्या? बस वैसे ही। रही शरीर के बदलने की बात, आप कहेंगे, 'मरने पर तो शरीर दूसरा हो जाता है’, तो बुढ़ापे और जवानी में भी तो शरीर दूसरा हो जाता है। शरीर तो है ही निरंतर परिवर्तनशील, बस आमतौर पर उसका जो परिवर्तन होता है वह शनैः-शनैः होता है। मृत्युपरांत जब हम उसको जला देते हैं तो वह परिवर्तन यकायक हो जाता है। हमें दिखाई देता है कि खाल राख बन गई। पर खाल तो प्रतिदिन राख बनती है। कभी अपने हाथ घिसकर देखो, वो खाल ही है जो बाहर आती है। खाल तो लगातार राख बन ही रही है। मृत्यु तो लगातार हो ही रही है, क्योंकि मृत्यु और जीवन अलग-अलग नहीं हैं। वही जो आपकी राख है वो अन्न बनेगी न? आपकी राख ही तो अन्न बनेगी न? और अन्न बनकर वो फिर चैतन्य हो जाएगी। यही तो

पुनर्जन्म है कि प्रकृति में यही चक्र चलता रहता है। आप शरीर थे, आप राख हुए, राख बनकर अन्न हुए, अन्न बनकर फिर चैतन्य हो गए।

प्र१: जितना भी पढ़ा-सुना है आत्मतत्व के बारे में, आत्मा के बारे में, वो पूरा कॉन्सेप्ट ही इस बात से उलट जाता है मेरा कि शरीर ही सबकुछ है, मृत अवस्था में भी वो चेतना ही है और अभी मैं यहाँ बैठकर बात कर रहा हूँ, सुन रहा हूँ, तो अभी भी मैं वैसा ही हूँ जैसा मरने के बाद रहूँगा।

आचार्य: क्या आप सोते समय वैसे ही होते हैं जैसे अभी हो? तो मरने के बाद वैसे कैसे रह जाओगे जैसे अभी हो? ये क्या कुतर्क है? ये तो छोड़ दो कि सोते समय तुम वैसे ही रहोगे जैसे अभी हो, यहाँ से बाहर निकलोगे, दूसरे हो जाओगे, शोर मचाओगे। तो अभी खड़े-खड़े वैसे कैसे रहोगे जैसा मरने के बाद होते हो? प्रतिपल तो बदल रहे हो।

प्र१: आचार्य जी, आप सही कह रहे हैं; मतलब मैं समझ नहीं पा रहा हूँ वो चीज़...

आचार्य: मुझे लग भी नहीं रहा है कि तुम मुझे ग़लत कह रहे हो। (मुस्कुराते हुए)

प्र१: मेरा ये कहना का मतलब है कि देखिए, जन्म और मृत्यु यहाँ बैठे हुए सभी लोगों को ये होगा कि ये दोनों चीज़ें अपने हाथ में नहीं होतीं। जन्म हुआ और वो चेतना – समझ में नहीं आता…

आचार्य: समझ में इसलिए नहीं आता क्योंकि आप अपनेआप को मिट्टी मानना नहीं चाहते। अहंकार की बात है, बुरा लगता है।

‘हममें और मिट्टी में कोई अंतर ही नहीं?’ नहीं है अंतर! यह मान लो, मुक्त हो जाओगे। और मृत्यु के भय से भी दूर हो जाओगे। समझ जाओगे कि क्यों मृत्यु को मिथ्या कहा जाता है। क्योंकि मृत्यु का आपने अर्थ लगाया है मिटना, जबकि मृत्यु का अर्थ है केवल बदलना।

प्र२: प्रणाम, आचार्य जी। मैं उसी के कॉन्टिनुएशन में पूछ रही हूँ कि आप कह रहे हो कि जन्म और मृत्यु शरीर की अवस्था हैं। जब जीवित होते हैं तो शरीर की एक अवस्था है, सुषुप्ति में जाते हैं तो दूसरी अवस्था है और मृत हो जाते हैं तो एक और अवस्था। हम लोग ये समझते हैं कि जबतक हम जीवित हैं, हम लोगों के शरीर में आत्मा है और जब हम लोग जीवित नहीं हैं तो... ये आत्मा-जीवन-मरण, इन सब का खेल समझ में नहीं आ रहा है सर।

आचार्य: शरीर 'में' आत्मा हो सकती है? शरीर में तो वही सबकुछ होगा न जो चेतना का विषय है! चेतना का विषय माने क्या? जो कुछ आप सोच सकते हो, चेतना का विषय कहलाता है। मैं जिस चीज़ के बारे में सोच रहा हूँ वो चेतना का विषय है। अगर आपने आत्मा के बारे में सोच लिया तो वह चेतना का विषय हो गई।

आप कह रहे हो – आत्मा इतनी छोटी-सी चीज़ है और इतनी भौतिक चीज़ है और एकदम त्रिआयामी चीज़ है कि वो शरीर में घुस जाएगी। और मन में भी घुसी हुई है क्योंकि मैं उसके बारे में कहानी बता रहा हूँ, सिद्धांत बता रहा हूँ।

आत्मा क्या है? यह जो शरीर है न मदर , माँ, मम्मी, इसका छोटा-सा बच्चा है चेतना। उसको बहुत-बहुत बड़ा होना होता है, उसको अनंत होना होता है, यही उसकी माँ की आकांक्षा है। चेतना की अनंतता को आत्मा कहते हैं। एक तरह से शरीर को ही आत्मस्थ होना होता है अपने बच्चे के माध्यम से। कौनसा बच्चा? चेतना। यह शरीर ही मुक्ति चाहता है; शरीर और चेतना अलग-अलग नहीं हैं। शरीर और चेतना अलग-अलग होते तो सर पर कोई हथौड़ा भी मार देता तो आपकी चेतना हिलनी नहीं चाहिए थी। शराब पीते ही – शराब शरीर पीता है न? – शराब पीते ही चेतना क्यों हिलने-डुलने लग जाती है? क्योंकि शरीर और चेतना अलग-अलग नहीं हैं।

और हम कुछ इस तरीके से हैं, बस हैं, कोई वजह नहीं है उसकी, यथार्थ है बस, कि इस शरीर में जो चेतना है, जो इस शरीर से अभिन्न है, उसे बड़ा होना है, बड़े हुए बिना उसे चैन नहीं मिलता। उसी बड़ी सम्भावना को, चेतना का ही जो उच्चतम लक्ष्य है, उसको आत्मा बोलते हैं।

तो आत्मा कोई चीज़ नहीं जो इधर-उधर डोल रही है, आत्मा अंतिम लक्ष्य है और पहला आधार है। इसीलिए उसे आकाश भी बोलते हैं – सबकुछ उसके भीतर है, वो किसी के भीतर नहीं हो सकता। कोई बोले कि आकाश फ़लानी चीज़ के अंदर रखा हुआ है, तो तुरंत क्या पूछोगे? 'वो चीज़ कहाँ रखी है फिर?' आत्मा आकाश है, सबकुछ उसमें है, कुछ भी इतना बड़ा नहीं होता कि उसमें आकाश समा जाए।

और यह भी सिर्फ़ एक रूपक है। क्यों? क्योंकि आकाश को भी आप कह सकते हैं कि मन के आयाम में तो आ गया न, हम बात कर लेते हैं वगैरह-वगैरह। आकाश की तो फिर भी बात हो सकती है; आत्मा ऐसा आकाश है जिसकी बात भी नहीं हो सकती। कोई शब्द उच्चारित करोगे उसके बारे में तो कोई सीमा दे दोगे आत्मा को, कोई प्रतीक बना लोगे, कोई छवि खड़ी करोगे। और मन छटपटाता है, मन कहता है, 'आत्मा जो भी चीज़ है, उसको पकड़ क्यों न लूँ? कुछ तो सिद्धांत बता दो, क्या होती है, कैसी होती है, रंग क्या होता है? नाम क्या होता है? तरीका क्या है उसको छू लेने का?'

जानते हो मन ये क्यों पूछ रहा है? क्योंकि मन बड़ा नहीं होना चाहता। अहंकार कहता है, 'आत्मा को पाने का जो सही तरीका है, वो नहीं अपनाऊँगा।' सही तरीका क्या है? बहुत बड़े हो जाओ, आकाशवत हो जाओ। 'मैं छोटा तरीका अपनाऊँगा।' छोटा तरीका क्या है? 'मैं जैसा हूँ, मैं वैसा ही रहूँगा, मैं आत्मा के बारे में जानूँगा, मैं आत्मा का ज्ञान हासिल करूँगा। मैं आत्मा बनना नहीं चाहता, मैं आत्मस्थ हो विलीन और लुप्त नहीं हो जाना चाहता, मैं छोटू ही रह करके आत्मा का ज्ञान पा लेना चाहता हूँ' – यह अहंकार की चाल होती है।

प्र३: प्रणाम, आचार्य जी। इस विषय पर आपने जो बात कही, मैंने पूरी कोशिश की समझने की, पर ज़्यादा समझ नहीं पायी। मैं एक संस्था के पास गयी थी और वहाँ एक दीदी हैं जो कहती हैं कि आत्मा उनके अंदर आती है और बात करती है।

प्र४: प्रणाम आचार्य जी, मैं एक जैन परिवार से हूँ और जब धर्म की बातें होती हैं तब बोला जाता है कि भगवान महावीर तीर्थंकर जो थे, उनका जीव – 'जीव' शब्द का प्रयोग होता है – कि उनका जीव तीर्थंकर बनने से पहले इतने भवों में गया था, ये किया था, वो किया था; उसके बाद उनका जीव तीर्थंकर के पर्याय में आया। तो यहाँ पर आत्मा की बात मैं थोड़ा-थोड़ा समझा, पूरा नहीं समझा लेकिन फिर यह जीव क्या है?

आचार्य: हम जीव हैं। चेतना, छोटू बेबी, उसको अपनी माँ से चिपकना ज़्यादा प्रिय होता है अपनी विशालता की अपेक्षा – इस भाव को जीव कहते हैं।

चेतना अपनेआप को अपनी माँ से, माने देह से ही जोड़कर देख ले तो जीव कहलाती है। चेतना जो देहाभिमानी हो जाती है, जीव कहलाती है। छोटे बच्चे होते हैं न? मम्मी के पास ही रहेंगे, स्कूल नहीं जाएँगे। जबकि स्कूल में उसकी तरक्क़ी है, बेहतरी है, पर वो बच्चा क्या कर रहा है? वो मम्मी से चिपका हुआ है। इस मम्मी से चिपकने को जीवभाव कहते हैं।

प्र४: तो क्या आचार्य जी हम अपनी वृत्तियों को भी जीव बोल सकते हैं?

आचार्य: जिसको आप वृत्ति कहते हैं उन्हें सांख्य में, वास्तव में वेदान्त में भी, प्रकृति के गुण कहा जाता है। वो प्रकृति में होते हैं, तो जो प्रकृति का बच्चा है, चेतना, उसमें भी होते हैं।

प्र५: आचार्य जी, सादर नमस्कार। जैसा आपने बताया कि हर शरीर के साथ एक चेतना होती है। तो यहाँ पर हमारे कई अलग-अलग शरीर हैं, तो क्या हमारी कई चेतनाएँ हैं?

आचार्य: हाँ अलग चेतनाएँ हैं।

प्र४: और दूसरे जो चौरासी-लाख योनियों की बात आती है कि चौरासी-लाख योनियों में भटकने के बाद ये शरीर प्राप्त हुआ है और इसका हमें उद्धार करना है – तो ये क्या है? और ये चेतना अलग-अलग कैसे हैं? ये शरीर मरता है तो चेतना का क्या होता है?

आचार्य: शरीर ही चेतना है। चेतना का कुछ नहीं होता; वो धूल में बैठ जाती है।

**प्र४: ** तो क्या सर हमारी कई चेतना हैं?

आचार्य: बिलकुल! जितने लोग यहाँ बैठे हैं, उतनी ही चेतनाएँ नहीं है यहाँ पर, आपकी जो चेतना थी प्रश्न पूछने से पहले, वो अब बदल चुकी है। तो चेतनाएँ अनंत हैं, चौरासी-लाख का जो आँकड़ा है वह प्रतीक है अनंतता का। कि जैसे आप बोलते हो न फ़लाना हज़ार बहाने बनाता है। इसका क्या मतलब है? ठीक १००० बहाने बनाता है? ९९८ नहीं बना सकता, १००२ नहीं बना सकता? हज़ार बहाने का क्या अर्थ है? अनंत, बहुत ही सारे! यही कहा जाता है। चौरासी-लाख योनियाँ माने चेतना के अनंत रंगरूप हैं। "मन के बहुतक रंग हैं छिन-छिन बदले सोय", यही है चौरासी-लाख योनियाँ।

इसका ये मतलब नहीं है कि आप खरगोश बन जाओगे, खरगोश आपके भीतर ही बैठा हुआ है। जिस धूल से आप मनुष्य बन गए, उसी धूल से तो खरगोश भी आता है न? तो आपमें भी धूल है, खरगोश में भी धूल है। खरगोश में आप हैं, आपके भीतर खरगोश है। खरगोश की मूलवृत्ति है डर और सतर्कता। आप डरे हुए नहीं रहते? आप भी खरगोश हो। खरगोश आप में ही मौजूद है।

जब आप बहुत डर जाओ तो आप कह सकते हो अभी आप खरगोश योनि में हो। जब आप बहुत चालाकी दिखाओ तो आप कह सकते हो अभी आप सियार योनि में हो। जब आप एकदम डरपोक, बल्कि कायर हो जाओ तो आप कह सकते हो आप गीदड़ योनि में हो। तो अभी ही यहाँ अनंत योनियाँ हैं जो लगातार परिवर्तित भी हो रहीं हैं। मरकर योनि परिवर्तन नहीं होगा, योनि परिवर्तन प्रतिपल हो रहा है। आप किसी एक ही योनि में नहीं हैं, आप मनुष्य होते हुए भी लगातार योनि परिवर्तन में हैं।

सारी बातें मन को संबोधित करके कही गईं हैं। सब योनियाँ मन के लिए हैं, क्योंकि मुक्ति भी किसको चाहिए? मन को चाहिए। योनियाँ सब मन के लिए हैं। जिन लोगों ने ये बातें कही थीं, उन्हें बड़ा अचरज होता होगा कि उनकी बातों का किस तरीके से बेढंगा अर्थ किया गया। वो बहुत ऊँचे लोग थे, वो मन की मुक्ति के साधक थे। उन्होंने जो कहा मन मात्र को कहा, माने चेतना मात्र को संबोधित करके कहा, पर हमने उस बात का

बिलकुल स्थूल अर्थ कर लिया। हमने कहना शुरू कर दिया कि तुम शक्कर ज़्यादा खाते हो, मरकर चींटी बन जाओगे – ये बेढंगी बात है, एकदम बचकानी, दो साल के बच्चों को शोभा देती हैं ऐसी बातें, प्रौढ़ों को नहीं।

अगर आप शक्कर की ओर बार-बार भाग रहे हो तो आप अभी ही चींटी हो। और शक्कर की ओर भागने से ही आप चींटी नहीं हो गए। जो भी कोई अपने लालच की वस्तु की ओर भाग रहा है उसे चींटी बोल सकते हो। जो भी कोई मिठास पर मरता है, किसी भी तरह की मिठास, शब्दों की मिठास, रूप की मिठास, उसे आप चींटी बोल सकते हो; मरने की प्रतीक्षा मत करो, आप पशु योनियों में अभी ही हो। इसीलिए कहा जाता है कि निचली योनियों में गिरने से बचो और ऊँची योनि की तरफ़ प्रस्थान करो। निचली योनियों में गिरने से बचने का क्या अर्थ है? कि जानवरों जैसी वृतियों से बचो, जानवरों जैसी वृत्तियाँ प्रदर्शित करना ही निचली योनियों में प्रवेश है।

प्र५: जब कृष्ण बात करते हैं कि जो व्यक्ति मृत्यु के समय मुझे याद रखता है वो ऊँची गति को प्राप्त होता है तो कृष्ण किस मृत्यु की बात कर रहे हैं? वो कौनसी स्थिति है?

आचार्य: प्रतिपल की मृत्यु की। इसका उत्तर मैंने दिया है। आप कहाँ थे? कल ठीक इसी प्रश्न का उत्तर दिया है। कल ही दिया न? इसी को मृत्यु बोलते हैं।

आप कौनसी योनि में विचरण कर रहे थे? आधे घंटे तक मैं इसी का उत्तर दे रहा था।

मृत्यु प्रतिपल हो रही है। कृष्ण का स्मरण भी इसीलिए प्रतिपल करना है। मृत्यु क्या है? किसी ऐसी चीज़ से संबद्ध हो जाना – मन की मृत्यु – किसी ऐसी चीज़ से जुड़ जाना जो परिवर्तित हो जाती है, उसको मृत्यु बोलते हैं। और आप जुड़ गए थे यह सोचकर कि यह चीज़ परिवर्तित होगी नहीं। आप चाहते थे आप जिससे जुड़े हो वो नित्य रहे, अमर रहे, शाश्वत रहे, पर वो बदल जाता है – ये मौत है, मौत लगातार होती है। और मृत्यु लगातार दुःख देती जाती है क्योंकि आपकी आशा खंडित हो रही है। आपकी आशा थी नहीं बदलेगा, वो बदल गया, चोट लगी।

इसीलिए कृष्ण का नाम चाहिए ताकि चोट ना लगे, वह मृत्यु से बचाते हैं। मृत्यु से कैसे बचाते हैं? कृष्ण हैं तो किसी और से चिपटोगे ही नहीं। कृष्ण हैं तो किसी ऐसी चीज़ से सम्बन्ध बैठाओगे ही नहीं जो नाशवान है। कृष्ण माने ब्रह्म, कृष्ण माने वो जो बदल नहीं सकता क्योंकि वह मन में है ही नहीं, वो मन में समाएगा ही नहीं; मन में जो कुछ है बदल जाएगा। कृष्ण कोई पुरुष, कोई व्यक्तित्व, या अवतार भर नहीं हैं। ब्रह्म को कृष्ण कहते हैं। गीता में कृष्ण ब्रह्म हैं सीधे। तो जो कृष्ण के साथ है वो नाशवान चीज़ों से सम्बद्ध नहीं है, अतः उसे मृत्यु का सामना नहीं करना पड़ेगा; बस ये है।

प्र६: आचार्य जी, प्रणाम। अभी आप ने बताया कि शरीर और चेतना अलग-अलग नहीं हैं। इससे पहले मैंने आपसे समझा है कि ख़ुद को चेतना जानो, आप शरीर नहीं हो। तो फिर इसमें द्वन्द पैदा हो रहा है मेरे अंदर।

आचार्य: बेटा, तुम हो तो शरीर ही क्योंकि शरीर ना हो तो चेतना नहीं हो सकती, लेकिन तुम्हें बढ़ करके आकाश हो जाना है। हो तो तुम मिट्टी ही क्योंकि मिट्टी ना हो तो पौधा नहीं हो सकता, लेकिन उस पौधे को बड़ा वटवृक्ष हो जाना है। वटवृक्ष होने के लिए ज़रूरी है कि मैं तुम्हें यही सीख दूँ कि तुम मिट्टी के ही आलिंगन में मत पड़े रहो।

क्योंकि जैसे-जैसे पेड़ उठता है, ऐसा लग सकता है कि उसकी पृथ्वी से दूरी बढ़ती जा रही है। तो इसलिए ये सीख देनी पड़ती है कि पृथ्वी के ही आलिंगन में, आगोश में मत पड़े रहो, तुम उठो।

वही जो माँ वाला रूपक है न, वो बिलकुल सटीक है यहाँ पर। बच्चा है छोटा, माँ से आया है और माँ से ही उसे सबकुछ मिलता है तो वो माँ से बिलकुल चिपका रहना चाहता है। लेकिन इसमें उसका कल्याण नहीं होगा। उसका कल्याण इसमें है कि एक अवस्था के बाद वो धीरे-धीरे संसार में बाहर निकले, और अपनी जो संभावना है उसको साकार करके दिखाए। यह काम है चेतना का।

तो तात्विक रूप से यह बात बिलकुल सही है कि तुम शरीर ही हो, लेकिन सीख देने के लिए यह कहना पड़ेगा कि तुम प्रकृति से परे हो, तुम देह नहीं हो, देहभाव का त्याग करो। समझ में आ रही है बात ये? ये दो हैं विरोधाभासी बातें, लेकिन इनको साथ लेकर चलना पड़ेगा। यथार्थ यही है कि तुम शरीर ही हो लेकिन शरीर तुम्हारी संभावना नहीं है, नियति नहीं है।

शरीर तुम्हारा यथार्थ है, हो शरीर ही, लेकिन सीख यही दूँगा कि तुम शरीर नहीं हो ताकि तुम शरीर से बंध कर ना रह जाओ। शरीर से बंधे रह गए तो वो हो नहीं पाओगे जो होने के लिए शरीर ने ही तुम्हें पैदा किया है। जैसे तुम्हारे माध्यम से, तुम्हारी चेतना के माध्यम से स्वयं शरीर ही मुक्ति पाना चाहता हो! जैसे पृथ्वी का प्रेम हो आकाश से तो वह पेड़ को उपजाती है कि जाओ, आकाश को चूम लो – ऐसे समझो। और पेड़ अगर आकाश की ओर नहीं बढ़ रहा है तो पृथ्वी को भी अच्छा नहीं लगेगा।

प्र७: मैं यह पूछना चाह रही हूँ कि जैसे चेतना बड़ी होकर आत्मा हो जाना चाहती है। तो मतलब चेतना विस्तार करना चाहती है? विस्तार करने का मतलब कि हमारे विचार ऊँचे हो जाना चाहते हैं क्या? और इसमें अहम् का क्या रोल है?

आचार्य: चेतना के विस्तार का अर्थ होता है अपने देहभाव से मुक्ति।

प्र७: और फिर इसमें अहम् का क्या रोल है?

आचार्य: अहम् ही चैतन्य होता है। चेतना के लिए दो चाहिए। जब आप कहते हैं, 'मैं चैतन्य हूँ' तो उसमें दो चाहिए होते हैं, एक दृष्टा और एक दृश्य। अहम् नहीं है तो संसार नहीं होगा, संसार नहीं है तो चेतना नहीं हो सकती, क्योंकि जो हमारी सामान्य चेतना होती है वह द्वैतात्मक होती है, उसमें दो चाहिए होते हैं – एक मैं और एक संसार, एक दृष्टा और एक दृश्य। तो चेतना के लिए आवश्यक है कि चेतना के केंद्र में 'मैं' बैठा हो, 'मैं'।

कृष्ण कहते हैं गीता में कि अहंकार प्रकृति का एक तत्व मात्र है। वो भी शरीर – शरीर जो कि मिट्टी है, जो कि प्रकृति है – वो भी शरीर से ही उठता है। वो शरीर से उठता है लेकिन उसके पास एक बड़ी अद्भुत शक्ति होती है। वो शक्ति होती है 'चुनाव' की। चुनाव की शक्ति ना होती तो कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश ना दिया होता। अगर सबकुछ पहले से ही तय होता तो अर्जुन को समझाने की कोई ज़रूरत ना होती क्योंकि अर्जुन को जब कृष्ण समझा रहे हैं तो अर्जुन के पास ना समझने का भी अधिकार है। यदि सबकुछ पहले से तय होता तो ये भी तय कर दिया जाता कि अर्जुन समझेगा-ही-समझेगा। ऐसा नहीं होता है।

तो अहंकार के पास चयन की शक्ति होती है, उसे चुनना होता है अपनी बढ़ोतरी को। मैं चुनता हूँ कि अपनी माताजी को ससम्मान, सप्रेम कहूँगा कि मुझे अब आगे जाने दो, ऊपर बढ़ने दो। ठीक वैसे ही जैसे आचार्य शंकर ने अपनी माताजी को कहा था।

प्र८: तो आचार्य जी, यह जो अलग-अलग शरीर मिले हुए हैं, कोई जानवर के शरीर में आ गया, कोई मनुष्य के शरीर में है, तो यह एक संयोग है?

आचार्य: और आपको क्या लगता है? आप श्रेय लेना चाहते हैं कि ये जो आपको शरीर मिला है वो एक पदक की तरह मिला है कि आपने अतीत में, माने पिछले जन्मों में बड़ी उम्दा करतूतें करीं थीं इसीलिए अब आपको पुरस्कार स्वरूप यह मनुष्य शरीर भेंट किया गया है?

प्र८: सुना तो यही था आचार्य जी।

आचार्य: ये जो पूरा मेरा वक्तव्य था कि मैंने अतीत में बड़ी ज़बरदस्त करतूतें करी थीं इसीलिए मुझे अब पुरस्कार स्वरूप ये पदक प्रदान किया गया है, इसमें से आपको किसकी दुर्गंध आ रही है? अहंकार की। ये अहंकार मात्र है, कहना कि 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, इसलिए देखो मुझे मनुष्य योनि मिली है।' आप सर्वश्रेष्ठ हैं अपनी दृष्टि में। एक छोटा-सा अमीबा भी है न, उसकी दृष्टि में वही सबकुछ है। आप कहेंगे आप सर्वश्रेष्ठ हैं इसीलिए आपको जानवरों का माँस खाने का अधिकार है। शेर कहेगा, 'मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ, मुझे मनुष्य

को खाने का अधिकार है।‘ अगर आप वास्तव में सर्वश्रेष्ठ होते तो शेर कभी आपको मार ही नहीं पाता। पर आप हत्थे चढ़ जाइए उसके और उसको बोलिए, ‘मैं तो सर्वश्रेष्ठ हूँ, मनुष्य योनि में हूँ।‘ वो कहेगा, ‘ये सब बातें आध्यात्मिक लोगों को बताना, हम इतने बेवकूफ़ नहीं हैं।‘

अच्छे काम इसलिए नहीं करिए कि उससे आगे अच्छा जन्म मिलेगा। अच्छे काम इसलिए नहीं करने हैं कि अगले जन्म में अमीर परिवार में पैदा हो जाएँगे। अच्छे काम इसलिए करने हैं क्योंकि आप अभी बेचैन हैं, तड़प रहे हैं। आपको अपनी वर्तमान स्थिति को ठीक करना है इसलिए शुभ कर्म करिए। शुभ कर्म भविष्य को और अगले-पिछले जन्म को ध्यान में रखकर मत करिए। शुभ कर्म अपनी वर्तमान हालत को ध्यान में रखकर करिए। लोग पूछते हैं, कहते हैं, ‘अगर अगला जन्म नहीं होता तो फिर कुछ भी अच्छा करने की ज़रूरत क्या है? खाओ, पीओ, मौज करो!’ मैं पूछता हूँ, तुम मौज कर रहे हो क्या? खाने-पीने से अगर मौज हो सकती है तो कर लो।

तुम वह मरीज़ हो जो ऐसा मरीज़ है, इतनी बुरी हालत में रोगी है कि कहता है, 'मैं तो मौज कर रहा हूँ'। कल्पना करिए आप अस्पताल जाएँ, वहाँ एक मरीज़ पड़ा हुआ है, उसकी आँतें बाहर आयी हुईं हैं, हाथ में किडनी है, उसका अचार बना हुआ है, बोलता है तो दाँत उछल-उछलकर बाहर आते हैं, खोपड़ा आधा उसका बैक्टीरिया खा गए हैं, और वो बोल क्या रहा है? 'मैं तो मौज कर रहा हूँ!' हममें से ज़्यादातर लोग ऐसे ही होते हैं।

अध्यात्म इसलिए नहीं है कि इस व्यक्ति का अगला जन्म अच्छा हो जाएगा। अध्यात्म इसलिए है ताकि यह अपने वर्तमान कष्ट से मुक्ति पा सके। मुक्ति का अर्थ यही होता है, मुक्ति का अर्थ और कुछ नहीं है। आपको वर्तमान में जो कष्ट है उससे मुक्ति पा जाइए, यही मुक्ति है। इसीलिए भारत में जो उच्चतम आदर्श है वो अगले जन्म की मुक्ति को नहीं माना गया, जीवनमुक्त को माना गया। जीवनमुक्त माने अभी चाहिए मुक्ति, अभी। अभी तरकर दिखाओ, आगे के लिए लंबित मत करो कि आगे मुक्ति मिलेगी। अभी मुक्त जीवन जी कर दिखाओ, यह हुई सूरमाओं वाली बात। पुण्य इकट्ठा नहीं करने हैं, तत्काल अपनी बेड़ियाँ काटनी हैं।

आपको दिखता नहीं है – आप गीता का हवाला देते हैं, कृष्ण निष्काम कर्म की बात कर रहे हैं। निष्काम कर्म का अर्थ ही यही है कि आगे की बात पर ध्यान नहीं देना है, जो अभी सही है, जो अभी कृष्णधर्मा है, तुम वो करो। तो आप अभी कर्म कैसे कर सकते हैं अगले जन्म को ध्यान में रखकर? फिर निष्काम कर्म का क्या हुआ? समस्या अभी है, समाधान अभी करना होगा।

(श्रोताओं को संबोधित करते हुए) किसी का सरदर्द हो रहा है? हाथ उठा दीजिए, मैं चाहता हूँ उठाएँ। अरे भाई! किसी को शौचालय जाना है? उठा दो हाथ, उठा दो, उठा दो। (कुछ श्रोतागण हाथ उठाते हैं) हाँ! अगले जन्म में भेजूँगा।

दबाव अभी है तो राहत अभी चाहिए न? या अगले जन्म में चाहिए। अध्यात्म इसीलिए है ताकि आपको आपके कष्टों से अभी राहत मिल सके। दो-सौ साल बाद राहत पाकर क्या करोगे? रो तो अभी रहे हो।

मैं बताता हूँ हम क्यों तत्काल नहीं राहत पाना चाहते हैं, क्योंकि तत्काल राहत चाहिए तो तत्काल कीमत भी चुकानी पड़ती है। इतना बड़ा हमारा कलेजा नहीं है, तो हम बातें टाल देते हैं अगले जन्म में। कितनी गहरी साज़िश है न ये? तत्काल राहत चाहिए तो तत्काल विद्रोह करना होगा, क्रांति करनी होगी। इतना हममें साहस नहीं तो हम कहते हैं, 'हम धीरे-धीरे पुण्य वगैरह इकट्ठा कर रहे हैं। अगले जन्म में कुछ बेहतर होगा मामला।'

प्र९: मैं माफ़ी चाहूँगा आचार्य जी, दोबारा से वो धृष्टता कर रहा हूँ...

आचार्य: नहीं नहीं, बिलकुल पूछिए।

प्र९: बड़ा बचकाना सवाल है, कई बार समाचार पत्रों में, न्यूस पेपर्स में ऐसी घटनाएँ देखी गईं हैं कि एक...

आचार्य: झूठ है, झूठ है, झूठ है। एकदम झूठ है। (बाकि श्रोताओं से) आप भी जानते हैं कौनसी घटनाओं के बारे में बता रहे हैं।

जिन्हें पता नहीं होता न कि पुनर्जन्म जैसी कोई चीज़ होती है उनके साथ ये घटनाएँ घटती भी नहीं हैं। जिन्हें पता नहीं होता न कि ऐसी घटनाएँ घट जाएँ तो तुरंत अख़बार में छपेगा तुम्हारा नाम, उनके साथ ऐसी घटना नहीं घटती।

अब समझ लो कि ऐसी घटनाएँ क्यों घटती हैं – आपको पता है कि ऐसा एक सिद्धांत है जो समाज में प्रचलित है वो चीज़ आपके साथ भी होने लगती है। कई बार यह आपकी खुली साज़िश होती है, खुला झूठ होता है, कई बार ये आपके साथ अचेतन तरीके से होता है। आपको सही में लगने लगता है कि आपके साथ ऐसा हो रहा है जबकि वह सिर्फ़ एक सुनी हुई चीज़ है, जिसको आप अपने जीवन में अभिनीत कर रहे हैं। और फिर उसके साथ जो टी.आर.पी मिलती है उसका तो कहना ही क्या!

आप यहाँ से बाहर निकलिए, कहिए, 'आचार्य जी बड़े गज़ब के आध्यात्मिक आदमी हैं, उनके सामने बैठा तो मुझे अपने पिछले अट्ठारह जन्म याद आ गए।' चार दिन तक देश भर के नैश्नल टीवी पर आप-ही-आप चलेंगे। और आप बिलकुल उसमें सजीव चित्रण करिए, बताइए, 'देखिए, मैं न पहले ऐसा था, वैसा था, मैं ऐसा करता था, वैसा करा करता था।' और आप ये नहीं भी कर रहे हो तो आपके आसपास वाले कर देंगे। कोई छोटा बच्चा, दो-चार ऐसी बातें बोल दे उसके माँ-बाप तुरंत ढिंढोरा पीटते हैं कि देखो हमारे घर ऋषि ने जन्म लिया है। इन सब चीज़ों से बड़े फ़ायदे होते हैं। अभी एक वहाँ पर बछड़ा पैदा हो गया, उसके दो सर थे। वो बेचारा गरीब आदमी उसके यहाँ पर बछड़ा पैदा हुआ था, उसको लोगों ने इकट्ठा करके तीन-चार लाख रूपए दे दिए। उसकी कुल उपलब्धि क्या है? उसने तो कुछ किया भी नहीं। पर उसे तीन-चार लाख मिल गए तुरंत।

पिछले सब जन्मों का सांकेतिक अर्थ है। क्या अर्थ है? वो धूल जो आज तुम्हारे रूप में है, वही धूल कभी राजा थी, कभी मंत्री थी, कभी ऋषि थी, कभी घोड़ा थी, कभी गाय थी, कभी नदी थी, कभी पहाड़ थी, वो सब तुम्हारे एक अर्थ में पिछले जन्म थे। हम इतने पुराने हैं कि आज तक जो कुछ हुआ है इस पृथ्वी पर हम सबमें भागीदार रहे हैं, तो एक अर्थ में हमने बहुत सारे जन्म ले लिए हैं अब तक – वो सांकेतिक बात है।

पुनर्जन्म तो निश्चित रूप से होता है, और मैं उससे पूर्णतया सहमत हूँ। पर हम यह नहीं समझ पाते हैं कि पुनर्जन्म वास्तव में किसका होता है। हम ये सोचते हैं कि ये जो हमारा व्यक्तिगत अहंकार है, यही जन्म लेगा। जैसा मैं कहता हूँ कि हम सोचते हैं अभी महेश मरेगा, रमेश बन जाएगा और रमेश को ये याद होगा कि मैं पिछले जन्म में महेश था – नहीं ये सब नहीं है। आपके निश्चित रूप से अनंत जन्म हो चुके हैं, ठीक उसी तरह जैसे सागर की एक-एक बूंद अनंत बार अलग-अलग लहरों का रूप ले चुकी है। उसी तरह आप भी अनंत बार अलग-अलग रूप ले चुके हैं। धूल ही तो है न जो सबकुछ बनाती है? डायनासोर ख़त्म हो गए क्या? ना, धूल बने, वो धूल आज आपके शरीर में है।

एवोगैड्रो नंबर में (६.०२२×१०२३) १०२३ आता है, इसका मतलब समझ रहे हो? कितनी सारी यूनिट्स हो गईं हैं। एक मोल ऑक्सीजन का जो अभी मेरी नाक से निकल रहा है, वो आप तक ज़रूर पहुँच रहा है क्योंकि उसमें इतनी सारी यूनिट्स मौजूद हैं। मेरा जीवन आपका जीवन बनता जा रहा है। बल्कि आप ये समझिए, एक के आगे आपको २३ शून्य लगाने हैं, इस दुनिया में आज तक जो भी व्यक्ति जीवित रहा है, जो भी, उसके शरीर का कुछ-न-कुछ अंश आपके शरीर में मौजूद है – ये है पुनर्जन्म का अर्थ।

लेकिन जहाँ तक आपकी बात है, मैं जिससे अभी बात कर रहा हूँ, जिस विशिष्ट चेतना से मैं अभी बात कर रहा हूँ, उसका यह एकमात्र जन्म है और उसको यदि कष्ट है

तो उसे अपने कष्टों का तत्काल उपचार करना चाहिए। अपने कष्टों के उपचार के लिए अगले-पिछले जन्म पर निर्भर मत रहो। सही कर्म अभी करो।

प्र१०: प्रणाम आचार्य जी, सही कर्म के विरुद्ध एक जो तर्क दिया जाता है – बूढ़ों से लेकर बच्चों तक जो सभी कहते हैं – वो महाभारत की एक कथा से आता है कि मरने के बाद मोक्ष मतलब स्वर्ग दुर्योधन को भी प्राप्त हुआ था। मुझे स्वर्ग या नर्क में ज़्यादा रुचि नहीं है, लेकिन कहानी में ऐसा अंत लाने की लेखक को क्या ज़रूरत थी?

आचार्य: कि अगर विरोध करना भी है तो कृष्ण का करो। पानवाले, चायवाले, रिक्शेवाले को क्यों परेशान करते हो? दम है तो जाओ भिड़ जाओ कृष्णा से। मिल जाएगा स्वर्ग, तुरंत स्वर्गवासी करेंगे वो। क्षुद्रता के विरुद्ध यह बात कही जाती है कि अगर विरोध ही करना है तो कम-से-कम विरोध में तो थोड़ी ऊँचाई दिखाओ, थोड़ा दम दिखाओ।

एक वीडियो है मेरा, उसमें मैंने शायद शीर्षक ही यही दिया था कि भिड़ जाओ ऋषियों से। बहुत होशियार बनते हो, बहुत तर्क चलाते हो, तो जाओ और उपनिषदों के ऋषियों के विरुद्ध तर्क चलाओ और दिखाओ कि तुम्हारे तर्क कैसे सफल होते हैं। छोटे-मोटे बच्चों को पकड़ना, उनपर अपने तर्क चला देना, ये बात ठीक नहीं है न? तो इसीलिए यह कहा जाता है कि रावण को भी मुक्ति मिल गई। दुर्योधन को बता रहे हो स्वर्ग मिल गया, जो भी बात है। कहीं तो ऊँचाई दिखाओ। अगर खलनायक ही बनना है तो सुपरविलन बनो।

क्षुद्रता मत दिखाओ, पेटिनेस मत दिखाओ, उससे कुछ नहीं मिलता।

अब बन मत जाना तुम। यह तर्क दुर्योधन बनने के लिए नहीं दिया गया है। ये तर्क क्षुद्रता के विरोध में दिया गया है। आशय यह नहीं है कि तुम दुर्योधन ही बन जाओ। आशय यह है कि किसी भी तरह की क्षुद्रता ना दिखाओ।

आत्मा परमात्मा जीवात्मा - एक हैं? अलग हैं?

प्रश्नकर्ता: जीवात्मा, जीव और परमात्मा तीनों अलग-अलग हैं क्या?

आचार्य प्रशांत: जीव तो यही है, शरीरी जिसको कहते हैं आप। ठीक है? यह जीव कहलाता है। जीवात्मा माने अहम्; परमात्मा माने आत्मा। अच्छे से इसको बिलकुल समझ लें क्योंकि यह शब्द आपके सामने बार-बार, बार-बार आएँगे, कभी इधर से कभी उधर से, और इनमें उलझने का बड़ा ख़तरा रहता है। परमात्मा शब्द सही से उपयुक्त हुआ है तो उसका अर्थ एक ही है – सत्य, या आत्मा। सत्य बराबर आत्मा बराबर ब्रह्म। आत्मा को ही और ज़्यादा ज़ोर दे करके बोलने के लिए, स्पष्ट करने के लिए कह देते हैं ‘परम आत्मा’। पर आत्मा बोलें या परम आत्मा, आशय सत्य से ही है, आत्मा मात्र।

जीव आप हैं। आपकी जो 'मैं' की भावना है, अहम्, उसी को जीवात्मा कहते हैं। यह जो 'मैं' की भावना मिटने को तैयार रहती है, कहीं पहुँचने को तैयार रहती है, उस जगह को आत्मा कहते हैं। स्पष्ट है बिलकुल?

प्र: आचार्य जी, जीव माने क्या?

आचार्य: जो अपनेआप को जीवित माने, जो कहे कि 'मैं हूँ', वो जीव है।

प्र: जीवात्मा जो अहम् से जुड़ी हुई है?

आचार्य: अहम् अकेला होता है, कहता है, ‘मैं’। और फिर जब वह कहने लग जाता है 'मैं शरीर' तो जीव हो गया। अगर सिर्फ़ कहो कि 'मैं कौन?', तो बोलो जीवात्मा। आत्म माने 'मैं’। ठीक है? अहम्।

तुम सिर्फ़ कभी यह थोड़े ही बोलते हो कि 'मैं हूँ'। पूरी बात क्या बोलते हो? 'मैं कुछ हूँ, मैं राहुल हूँ, मैं अनिरुद्ध हूँ। मैं यहाँ का हूँ, मैं वहाँ का हूँ।' तब तुम हो गए जीव, तब हो गए जीव। और जीव का जो आत्म है, जीव का जो अहम् है, जीव के आत्म को कहते हैं जीवात्मा। जीव के ही अहंकार को कहते हैं जीवात्मा। जीव जिसको आत्म, माने 'मैं' बोले, वो हो गया जीवात्मा।

प्र: एक बार जीव पर फिर से...

आचार्य: हाँ ये जीव है। ये जीव है। जो अपना परिचय ऐसे देता है, ‘मैं रोहित हूँ’, वो जीव है। और 'मैं रोहित' में, रोहित प्रकृति है और ‘मैं’ अहम् है। बताओ कैसे पता

चलता है तुम रोहित हो? किसी को भी रोहित का पता कैसे चलता है, हम कैसे जानेंगे ये रोहित है? शरीर देखकर, पहचान देखकर, कपड़े देखकर, वर्तमान देखकर, भूत देखकर भविष्य देखकर, माँ-बाप का नाम देख करके। वह सब क्या है? वो सब प्रकृति के तत्व हैं। तो अहम् हमेशा किसके साथ जुड़ा होता है? प्रकृति के तत्वों के साथ। इसमें एक चीज़ ये भी याद रखना कि अहम् स्वयं भी प्रकृति का एक तत्व है। अहम् प्रकृति का वो तत्व है जो प्रकृति के अन्य तत्वों के साथ बहुत जल्दी सम्बन्धित हो जाता है। सम्बन्धित क्यों हो जाता है? क्योंकि उसे किसी-न-किसी से सम्बन्धित होना है। गड़बड़ वह यह कर लेता है कि वह अपने ही कुटुंब में सम्बन्धित हो जाता है। जबकि वह वास्तव में सम्बन्धित किससे होना चाहता है?

श्रोतागण: आत्मा परमात्मा से।

आचार्य: उसको सम्बन्धित वहाँ होना था, भीतर-ही-भीतर उसने रिश्ते बना लिए। तो तुम्हारा अहम् सम्बन्धित होना चाहता है किसी और से, पर उसने सम्बन्ध किससे बना लिया है? तुम्हारे कुर्ते से, तुम्हारी भावनाओं से, तुम्हारे विचारों से, तुम्हारे शरीर से।

प्र२: आचार्य जी आपने कहा कि आत्मा जब अहम् का रूप ले लेती है तो उसके लिए खेल है। और अहम् के लिए आत्मा एक माया है।

आचार्य: अहम् जब इधर-उधर फँस जाता है तो यह माया है। ये जो खेल चल रहा है ये आत्मा की तरफ़ से लीला है और अहम् की तरफ़ से माया है।

प्र२: इसको एक उदाहरण के साथ बता दें।

आचार्य: बाप अपने बेटे को यूँ ही छोड़ देता है। थोड़ा एक बड़ा-सा मैदान है, जहाँ पेड़-पौधे और इस तरह की चीज़ें हैं। थोड़ा अंधेरा है। बाप ले आता है, बेटा तीन-चार साल का है, उसे छोड़ देता है। रौशनी भी थोड़ी कम है। और बाप एक पेड़ के पीछे छुपा हुआ है। बाप अच्छे तरीके से जानता है इस चीज़ को। बाप का ही लगाया हुआ बाग़ है। वो एक-एक पौधे को, ज़मीन के एक-एक हिस्से को, घास के एक-एक कतरे को जानता है। उसने बेटे को छोड़ दिया है। बाप की ओर से क्या है? लीला। और बेटा वहाँ पर गया है फँस। वो खो गया, और अब चिल्ला रहा है, 'बापू! बापू!' और बापू नहीं मिल रहा, तो कभी जाकर गधे को पकड़ लिया, बापू बोल दिया। कभी कुछ और गुज़रा, कभी किसी पेड़ पर चिपट गया, उसको बापू बोल रहा है। उसे बापू चाहिए, बापू मिल नहीं रहा तो कहीं भी जाकर के 'बापू-बापू' कर रहा है। तो उसकी ओर से क्या हो गई? माया।

प्र: परमात्मा इस लीला में हस्तक्षेप क्यों नहीं करता?

आचार्य: उसने हस्तक्षेप पूरा कर रखा है। उसने आपको ताक़त दे दी है कि आप उसको खोज लें। अब आपके हस्तक्षेप करने की ज़रूरत है। कि उसने आपको जो ताक़त दी है आप उसका इस्तेमाल करें।

अब चलिए कहानी को आगे बढ़ा देते हैं। तो बापू ने लड़के को एक घंटी भी दे रखी है, क्या? कि जब ज़्यादा खो जाओ और यही लगे कि बापू वापस चाहिए तो घंटी बजा देना। अब लड़के को भी इधर-उधर गधों से लिपटने में मज़ा आ रहा है, उन्हीं को बापू मान रहा है कि यह बापू है। वह घंटी बजा ही नहीं रहा। तो हम यह क्यों बोलें कि बापू हस्तक्षेप क्यों नहीं कर रहा? बापू ने तो घंटी दे रखी थी न, कि घंटी बजाओ बापू पाओ। तुम घंटी काहे नहीं बजा रहे? तो वो अपनी ओर से आपको जो ताक़त दे सकता है, उसने दे दी है। वो आपके भीतर ही बोध बनकर बैठ गया है। वो आपके भीतर ही विवेक बनकर बैठ गया है। अब आपको उसका इस्तेमाल करना है, आपको चुनाव करना है। भई, बेटे को अगर बापू चाहिए ही नहीं तो बापू कैसे मिलेगा? चुनना तो पड़ेगा न बापू को!

प्र: यदि जीवात्मा को परमात्मा मिल जाता है तो क्या उस जीवात्मा की अकाल मृत्यु नहीं होती?

आचार्य: हाँ, जीवात्मा की मृत्यु हो जाती है, वैसे ही जैसे आप यहाँ बत्ती जलाते हो तो अंधेरे की मृत्यु हो जाती है। उससे किसी को क्या नुकसान हो गया? और उससे वास्तव में मिट भी कौन गया? आप यहाँ आए कमरे में, आपने बत्ती जला दी तो तुरंत मृत्यु हो गई, किसकी? अंधेरे की। उससे वाकई क्या किसी की मृत्यु हुई? अंधकार था, एक तरह का अज्ञान था जो मिट गया। जीवात्मा कुछ होता थोड़े ही है। वो कुछ होता तो मिट कैसे जाता? वो तो एक तरह का भ्रम है।

वो कहता है कि 'मैं हूँ' पर वो है नहीं। जीवात्मा कहता भर रहता है, 'अरे! मैं हूँ, मैं हूँ, मैं रोहित हूँ, मैं फ़लाना हूँ, मैं ढिकाना हूँ।' वह कुछ है थोड़े ही। उसको जितना आप जाँचते-परखते हो, पता चलता है झूठ बोल रहा है। अभी ये बात भी झूठ बोली, ये बात भी झूठ बोली। थोड़ी देर में आप सर पकड़ लेंगे, कहेंगे, 'सबकुछ तो झूठ ही बोल रहा है। ये है भी क्या?' जिसकी हर पहचान झूठ हो उसका अस्तित्व भी है क्या? कोई एक बात तो अपने बारे में सच्ची बोले। उसके बारे में तो जो हर एक बात है उसी का परीक्षण करो तो पता चलता है झूठी है। तो फिर क्या वो वाकई है भी? एग्जिस्टेंस , अस्तित्व भी है क्या उसका? तो कहाँ मिटा वो? कौनसी अकाल मृत्यु? मरने के लिए कोई होना चाहिए, था कहाँ कि मिटेगा?

आपके भीतर कुछ था जो अभी-अभी मिट गया। कौनसी अकाल मृत्यु? बहुत भारी शब्द है 'अकाल-मृत्यु'। इसका इस्तेमाल करके तो आप स्वयं को डरा रहे हैं ज्ञान के

विरुद्ध। कुछ था न भीतर जो मिटा है? अभी हम घण्टे-दो-घण्टे से बात कर रहे होंगे, बहुत कुछ है जो मिटता जा रहा है न? तो उसको अंधेरे का हटना कहें या अकाल-मृत्यु कह दें?

श्रोतागण: अंधेरे का मिटना।

आचार्य: हाँ, बस यही है। भ्रमों का टूटना, सपने का मिटना। ऐसे कहें तो ज़्यादा ठीक है। कुछ लग रहा था, था नहीं।

प्र: आपने जीव और जीवात्मा के बीच अंतर बताया तो क्या जीवात्मा के भाव में, ‘मैं हूँ’ के भाव में जीना ज़्यादा बेहतर होगा?

आचार्य: ‘मैं हूँ’ अटका देगा। ‘मैं हूँ’ कोई स्थाई भाव नहीं हो सकता न। एक ओर तो कह रहे हो 'मैं हूँ', दूसरी ओर तुम्हें ये भी नहीं पता है कि क्या हूँ। तो देर-सवेर तुमको कहीं-न-कहीं जाकर के अटकना ही पड़ेगा।

मैं कुछ हूँ उससे हटने के लिए विधि के तौर पर तुम कह सकते हो कि ‘मैं हूँ’। पर ‘मैं हूँ’ भी बहुत देर तक बोलते रहोगे तो कहीं-न-कहीं जाकर के फँसोगे। ‘मैं हूँ’ एक विधि हो सकती है, सत्य नहीं हो सकता। सत्य में 'मैं हूँ' का भाव भी नहीं रह जाता।

क्या नाम है? ‘मैं अंकित हूँ।‘ उसके पार जाने के लिए ये विधि कई बार बताई गई है कि बोलो, ‘मैं हूँ’। 'मैं अंकित हूँ' यह मत बोलो, 'मैं हूँ' बस, ठीक है। अपने-आपको एक उपस्थिति की तरह बोलो, एक प्रेज़ेन्स की तरह बोलो, 'मैं हूँ'। लेकिन 'मैं हूँ' करके बहुत समय तक नहीं रह पाओगे। क्योंकि यह जो अहम् है यह उत्तर माँगता है, ये पूर्ति माँगता है, साथी माँगता है। अधूरा है न, तो कुछ-न-कुछ चाहिए इसे अपने-आपको पूरा करने के लिए। अभी बोल रहे थे 'मैं अंकित हूँ', फिर बोलने लग जाओगे 'मैं हूँ, मैं हूँ'। वो बहुत देर तक चलेगा नहीं। फिर बोलने लग जाओगे 'मैं शंकित हूँ, मैं शंकित हूँ'। और फिर शंकित होकर कहीं-न-कहीं जाकर के फँस जाओगे। आख़िरी बात तब होती है जब कह दो कि ‘हम हैं भी? हमें तो पता ही नहीं।‘ ऐसा कब होता है? सोते समय होता है। सोते समय पता नहीं चलता कि मैं हूँ भी कि नहीं।

और कोई अगर ज़बरदस्ती तुममें यह भाव डाले कि तुम हो, तो फिर तुम चौंक जाओ। जैसे किसी ने गहरी नींद से उठा दिया। तुम्हें अच्छा ना लगे कि, ‘मुझे क्यों वापस मौजूद करा दिया गया, उपस्थित करा दिया गया। मैं तो चला गया था, मुझे वापस क्यों खींच लाए?’ जैसे यह एक विधि होती है न, 'आई एम ', वैसे ही एक विधि ये भी होती है 'मैं नहीं हूँ'। वह भी बराबर की अच्छी होती है, और ज़्यादा अच्छी होती है। पर यह दोनों ही विधियाँ भर हैं। बहुत आगे तक नहीं ले जा पाएँगी। कुछ लोग इसका इस्तेमाल करते

हैं – मैं हूँ आई एम , *आई एम*। कुछ ऐसे भी होते हैं जो ये भी चलाते हैं – आई एम नॉट , मैं हूँ ही नहीं। वो भी ठीक है। लेकिन अंततः तो आई एम को भी तुम्हें भूलना है। तो बहुत उसमें फिर सूरमा लोग होते हैं, वह कहते हैं, 'आई एम रिमेंबरिंग दैट आई एम नॉट , मैं जानता हूँ कि मैं नहीं हूँ।' गजब! मिले हैं, वो जब आते हैं तो कहते हैं कि, 'आचार्य जी, इतना तो मैं जानता हूँ कि मैं नहीं हूँ।' बाप रे!

प्र३: आचार्य जी, जीवात्मा का आत्मा बनना या अहम् का आत्मा बनना, ये आपने कल भी बताया था कि सिर्फ़ चुनाव की बात है और हम चुनते ही नहीं हैं। हमारे लिए हमेशा वो उपलब्ध है। अब चुनाव के तौर पर तो मुझे या अहम् को तो सिर्फ़ यही पता है कि सुख कहाँ पर है। तो मतलब सुख का पीछा करते-करते अंतिम में उसे पता लगता है कि शायद परमात्मा कुछ ऐसी चीज़ है जहाँ पर सुख है जो कभी ख़त्म नहीं होगा। तो मेरा प्रश्न ये है कि अहम् को वास्तव में प्रेम सुख से है या परमात्मा से?

आचार्य: हाँ, उसे ऐसा लगता है कि सुख के माध्यम से परमात्मा है। ये नहीं समझ पाता कि चूँकि उसे परमात्मा चाहिए इसलिए उसे सुख पसंद है।

प्र३: अगर एक काल्पनिक स्थिति लूँ कि मुझे प्रकृति के तत्वों में ही भरपूर सुख मिल जाए तो क्या वो परमात्मा कभी याद आएगा?

आचार्य: आपकी जेब में हो सकता है कि आपकी माताजी की, या आपके किसी इष्ट देवी-देवता की या आपकी बेटी की या बेटे की तस्वीर हो। आपका प्रेम किससे पहले है, आपकी बेटी से या उसकी तस्वीर से?

आचार्य: पर आपके पास लगातार क्या है?

आचार्य: यह परमात्मा और सुख का रिश्ता है। वो तस्वीर आपके पास इसलिए है क्योंकि आपको पहला प्यार बेटी से है। अगर आपको बेटी से प्यार ना होता तो उसकी तस्वीर आप जेब में रखते क्या? परमात्मा से प्यार ना होता तो सुख का क्या करते?

देखिए, मामला उतना जटिल नहीं है। हमने अभी कहा था न कि बाप ने दे रखी है घंटी, कि बटन दबा देना जब वापस लौटना हो। तो यह जो भी यात्रा है, खेल है, लीला है, माया है जो भी है, इसके अंत तक जाने के, आख़िरी जीत तक जाने के सब साधन आपके पास मौजूद हैं। नहीं तो फिर तो बहुत अन्याय हो जाएगा न कि आप को बाप ने जंगल में छोड़ दिया और आपको कोई तरीका, कोई साधन या ताक़त भी नहीं दी वापस लौटने का। यह तो बच्चे के साथ फिर नाइंसाफी हो गई। ऐसा नहीं है। एक तरफ़ तो आपका मन है जो सुख की ओर खींचता है, दूसरी ओर भूलिए नहीं कि आप इंसान हैं जिसके पास बुद्धि भी है, विवेक भी है, स्मृति भी है, प्रज्ञा भी है। आपके पास और भी बहुत कुछ है।

बिलकुल आप सुख की ओर आकर्षित होते हैं, लेकिन साथ-ही-साथ क्या आपको नहीं पता कि सुख धोखा कितना देता है और कीमत कितनी माँगता है?

तो हम एक ही पक्ष की बात ना करें कि सुख आकर्षित करता है। सुख की सच्चाई क्या है वो भी तो हम जानते ही हैं न। दूसरी बात; किसने कह दिया कि सच्चाई के रास्ते पर दुःख-ही-दुःख मिलते हैं? ये भी मेरी नज़र में अहंकार की ही एक चाल है, ऐसा वक्तव्य देना। क्योंकि एक बार आपने बोल दिया कि सच्चे रास्ते पर चलोगे तो दुःख-ही-दुःख पाओगे तो सच्चे रास्ते पर वैसे ही कोई नहीं चलेगा। नहीं, ऐसा तो है नहीं कि दुःख-ही-दुःख पाओगे; मज़े भी आते हैं। सच्चाई का भी अपना रस है। सुख-दुःख, सही जिओगे तो भी मिलेगा, ग़लत जिओगे तो भी मिलेगा। जो ग़लत जी रहे हैं उन्हें भी क्या सिर्फ़ सुख-ही-सुख मिल रहा है? जो सही जी रहे हैं उन्हें क्या बस दुःख-ही-दुःख मिल रहा है?

तो ऐसी धारणा करना कि जो ग़लत हैं, भ्रष्ट हैं और झूठे हैं उनके तो मज़े आ रहे हैं और जो सही ज़िंदगी जी रहे हैं वो बेचारे कष्ट में जी रहे हैं, ऐसी धारणा नहीं करनी चाहिए क्योंकि ऐसा है नहीं। कुछ फ़र्क हो सकता है। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि आप जितने डूबते जाएँगे और भ्रष्ट होते जाएँगे और कामी होते जाएँगे और आसुरी होते जाएँगे उतना आपके सुख में वृद्धि होती जाएगी। ऐसा कोई नियम नहीं है भाई।

शहादत अच्छी चीज़ है, पर ज़बरदस्ती का शहीद नहीं बनना चाहिए। क्योंकि ज़बरदस्ती अब यही दिखा दो कि सेना में जितने जाते हैं सब शहीद हो गए तो सेना में जाएगा कौन? शहीद भी होते हैं, ठीक है अच्छी बात है, सम्मान की बात है। कोई वीरगति को प्राप्त हुआ, पर ये नहीं दिखा देना चाहिए कि बारह-लाख शहीद हो गए एक झटके में। कि देखो ये तो रास्ता सूरमाओं के लिए है, जो पहले अपना सर काटते हैं फिर सेना में आते हैं। तो शहीद तो वो पहले ही हो गए थे। तो लोग सुन तो लेंगे, पर सुनने के बाद सैनिक नहीं बनेंगे वो।

इसीलिए फिर संतों ने खूब रस बिखेरा। उन्होंने कहा कि तुम सुख के लिए तड़पते हो न, सुख पर ही मरते हो न, आओ तुमको दिखाते हैं अध्यात्म में कितना सुख है। उन्होंने एक-से-एक गीत गाए। सड़कों पर गीत गाए। बोले, ‘तुम्हें नाच-गाना धूम-धमाका यही करना है न? हम तुमको दिखाते हैं नाचकर। तुम्हारा क्या नाच है, तुम तो दस साल में एक बार नाचते हो किसी की शादी में। वो भी नाचते ऐसा हो कि पी ली, गिर गए, चोट और लगा आए, मुँह फुड़वा कर लौट आए, नाचने गए थे। बेइज़्ज़ती! हम दिखाएँगे, हम रोज़ नाचेंगे। हम अखंड नाचेंगे।‘ नाचते ही गए। ‘लो तुम भी गाने बनाते हो, तुम्हारे गानों में भी कोई बात है? भद्दे! दो दिन नहीं चलते तुम्हारे गाने। हम ऐसे गाने बनाएँगे जो दो-सौ साल बाद भी लोग गाएँगे।‘ किसने कह दिया कि अध्यात्म में दुःख-ही-दुःख है? आओ इधर भी, अलग तरह का सुख है बस थोड़ा। कड़ा सुख, टफ प्लेज़र !

ब्रह्म सच है - न देवता, न ईश्वर, न भगवान

आचार्य प्रशांत: देवता ज़रूर आदमी का ही एक परिवर्धित संस्करण है, ब्रह्म नहीं। उपनिषद् और भारतीय दर्शन विशेष इसीलिए रहा है क्योंकि उपनिषदों ने विश्व को वो दिया जो कहीं और से नहीं आया, क्या? कुछ ऐसा जो आयामगत रूप से तुमसे भिन्न है; कुछ ऐसा नहीं जो तुम्हारा ही एक हज़ार गुना बड़ा विस्तार है। उसको आत्मा बोल लो, उसको ब्रह्म बोल लो।

तो क्या कहा उपनिषदों ने? उपनिषदों ने कहा कि सच्चाई जो है वो तुमसे आयामगत रूप से अलग है—ये पहली बात। दूसरी बात, वो सच्चाई तुम्हारे भीतर ही है, क्योंकि अहं हो तुम, और साफ़ हो गए तो वही सच्चाई बन जाओगे तुम; ये है विशिष्टता उपनिषदों की। इस विशिष्टता को बहुत ध्यान से समझो। पहली बात; जो सर्वोपरि है, जो सच्चा है, जो प्रथम है, वो तुम्हारे जैसा बिल्कुल नहीं है, वो तुमसे आयामगत रूप से अलग है, डाइमेंशनली डिफ़रन्ट् (आयामगत रूप से भिन्न) है। दूसरी बात; वो तुमसे इतनी दूर का है, इतनी दूर का है कि तुमसे डाइमेंशनली डिफ़रन्ट् है लेकिन फिर भी बहुत-बहुत निकट है तुम्हारे, तुम्हें बस अपने भ्रम छोड़ने हैं।

अन्यथा तो एक बालकथा बनानी बहुत आसान है। वो बालकथा कैसी होगी? वो बालकथा ऐसी होगी कि आप अपने ईश्वर की कल्पना कर लें बिल्कुल उसी तरीके से, जैसे आप गाँव के बड़े ज़मींदार की या राज्य के बड़े राजा की कल्पना करते हैं। क्या? कि वो किसी ऊँचे सिंहासन पर बैठा है ईश्वर। ये देख रहे हो न, ये कल्पना कहाँ से आ रही है? आप देख रहे हो कि आपका राजा कहाँ बैठता है? ऊँचे सिंहासन पर। तो आपने कहा, “ईश्वर तो भाई सब राजाओं से ऊपर है, तो वो एकदम ही ऊँचे सिंहासन पर बैठता होगा”, तो आपने कह दिया, “वो (ईश्वर) आसमान पर बैठता है।“

ये बिल्कुल बचकानी बात है न? जैसे बच्चों ने परिकथा लिखी हो।

फिर, राजा का सब जगह शासन चलता है; राजा जिस पर प्रसन्न हो जाता है उसे माला फेंक देता है और राजा जिस पर कुपित हो जाता है उसका गला कटवा देता है। तो वैसे ही आपने अपनी ईश्वरी कल्पना कर ली, कि, “अगर वो (ईश्वर) तुम पर मेहरबान हो गया तो तुमको तमाम तरह की नियामतें बक्श देगा, न जाने कैसे-कैसे दिव्य तुमको पुरस्कार मिल जाएँगे, वरदान मिल जाएँगे। और अगर वो तुम पर कुपित हो गया तो तुम पर तमाम आफ़तें आ जानी हैं।“ ये वही राजा वाला काम चल रहा है न, कि नहीं चल रहा है? ऐसे काम वो राजा और ज़मींदार ही करते थे। तो आमतौर पर हमने जो कल्पना

करी है ईश्वर की, वो और कुछ नहीं है, वो यही ज़मींदारी और राजे-रजवाड़ों की ही परम्परा का एक रूप है।

उपनिषद् जो कह रहे हैं वो चीज़ बिल्कुल अलग है। उपनिषद् कह रहे हैं, "तुम, तुम्हारी कल्पनाएँ, तुम्हारे राजा, तुम्हारा सब कुछ जो बड़े-से-बड़ा है, महत्-से-महत् है, तुम्हारा सब कुछ जो छोटे-से-छोटा है, आण्विक-से-आण्विक है; उन सबसे अलग है सच्चाई। तुम और वो जो तुम्हारी दृष्टि में बड़े-से-बड़ा है वो सब एक ही तल पर हैं।"

एक तरीका ये है कहने का, कि इस तल पर (सामने के मेज का उदाहरण बताते हुए) मैं यहाँ (एक सिरे) पर हूँ और इधर को (मेज के एक छोर से दूसरे छोर) प्रगति होती है। ठीक है? जैसा हम मानते हैं, कि हम इस तल पर हैं, उधर (एक छोर) को हम कह देते है कि वो उन्नति की दिशा है, इधर (दूसरे छोर) को कह देते हैं "अवनति की दिशा है," तो हम कह देते हैं, "इधर को (मेज के एक ओर से दूसरी ओर) प्रगति होती है।" यहाँ पर ये (रिकार्डर) बैठा हुआ है, ये कौन है? मोटा है, देखो ये मोटा है। तो ये कौन होगा? ये राजा है। और ये (कलम) ऐसा ही है सिकुड़ा सा, ये कौन है?

आचार्य: ये प्रजा है। तो हमने कह दिया, "जी ये (कलम) प्रजा है, ये (रिकार्डर) राजा है।"

और ये (मोबाइल) देखो, ये कैसा है?

आचार्य: तो ये कौन हो गया फिर? ये ईश्वर हो गया।

ये ईश्वर की या गॉड (ईश्वर) की प्रचलित कल्पना रही है, कि, "हम पीछे, राजा आगे, और राजा से आगे यहाँ कहीं देवी-देवता," और उनसे भी आगे? ईश्वर।

उपनिषद् जो बोल रहे हैं इसीलिए वो बात लोगों के गले उतरती नहीं; वहाँ बात दूसरी कही जा रही है। वहाँ क्या बात कही जा रही है? वहाँ कहा जा रहा है कि, "अरे बच्चे! ये सब कुछ जो यहाँ पर हो रहा है, ये सब प्रकृति का तल है। तुम, तुम्हारे राजे, तुम्हारे देवी-देवता, तुम्हारा ऊँचे-से-ऊँचा, तुम्हारा नीचे-से-नीचा; ये सब क्या हैं? सब यहीं हैं, सब प्रकृति के अंदर हैं। और सत्य क्या है? वो प्रकृति से परे है, वो प्रकृति का स्रोत है, वो प्रकृति का पितामह है।"

इसीलिए ब्रह्म गॉड नहीं है। ब्रह्म के लिए दुनिया की किसी और भाषा में कोई शब्द ही नहीं है। ब्रह्म के समानांतर किसी दर्शन ने कभी कुछ पाया ही नहीं; ब्रह्म के लिए भी, आत्मा के लिए भी। इसीलिए तो मुझे बहुत निराशा होती है, बल्कि क्रोध भी उठता है जब लोग कहने लग जाते हैं कि "आत्मा तो रूह होती है न?" तुम पागल हो गए हो?

तुमने आत्मा को रूह बना दिया; यहाँ ऋषियों ने कितनी कोशिश से क्या बात समझाई, और तुमने आत्मा को रूह बना डाला। आत्मा यहाँ है (मेज के तल से ऊपर), और तुम्हारी रूह और जो भी तुमने तमाशे कर रखे हैं, वो सब कहाँ हैं? वो सब यहाँ हैं (मेज के तल पर)।

आत्मा का ही दूसरा नाम ब्रह्म है, उन्हीं का नाम सत्य है; वही परम, वही मुक्ति, वो एक है। वो ऊपर है; और ऊपर भी ऐसे नहीं कि यहाँ (ज़मीन से ऊपर) कहीं है, बस बियॉन्ड (परे), ट्रांसेंडेंटल (सामान्य मानव अनुभव, ज्ञान और समझ से बाहर)। समझ में आ रही है बात? तो गॉड नहीं है ब्रह्म। गॉड का अधिक-से-अधिक अनुवाद हो सकता है- ईश्वर; और ईश्वर को तो हम जानते ही हैं कि वेदांत ने कहा कि “माया है।“ तो जिसको गॉड कहा जाता है आमतौर पर, वो माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

जीवन का उद्देश्य ईश्वर तक पहुँचना नहीं है, जीवन का उद्देश्य ब्रह्मलीन हो जाना है।

तुमने कभी 'ईश्वरलीन' नहीं सुना होगा; ईश्वर को तो कहते थे 'ईश्वरप्राप्ति'। लेकिन 'ब्रह्मप्राप्ति' नहीं सुना होगा; जैसे ईश्वरलीन नहीं सुना वैसे ब्रह्मप्राप्ति नहीं सुना होगा। ब्रह्म में लीन होते हैं; क्योंकि यहाँ (प्रकृति) से ऊपर उठ गए तो तुम वो रहे ही नहीं जो तुम यहाँ थे, अब तुम्हारा लय हो गया, लय माने? मिट गए। समझ में आ रही है बात? तो ब्रह्म में लीन होते हैं। ब्रह्म में लीन होने का मतलब है- अहंकार मिट गया। और, ईश्वर की प्राप्ति होती है उसमें क्या होता है? अहं कहने लगे गया, “मुझे ईश्वर भी मिल गया;” वो बहुत अलग बात है और बहुत छोटी बात है।

फिर बोल रहा हूँ, बिल्कुल बच्चों वाली बात है, कि, “किस ईश्वर की आराधना करते हो? कौन-सा गॉड कैसा है? और गॉड क्या कह रहा है? और गॉड ने फिर ऐसा करा और फिर गॉड ने कहा।“ ब्रह्म कभी कुछ कहता है? ब्रह्म कभी कुछ करता है? लेकिन जिसको तुम गॉड कहते हो वो करता भी है, कहता भी है, और सब चलता है उसका। ब्रह्म से कभी प्रार्थना करी है? ब्रह्म का कोई मंदिर होता है? गॉड का होता है, सब देवी-देवताओं के लिए मंदिर होते हैं। ब्रह्म का कोई मंदिर नहीं हो सकता, और ब्रह्म को कोई प्रार्थना नहीं हो सकती। सभी देवी-देवताओं की मूर्तियाँ होती हैं, ब्रह्म की कोई मूर्ति भी नहीं हो सकती।

गॉड रचनाकार होता है, वो दुनिया बनाता है, ब्रह्म ने दुनिया नहीं बनाई। वास्तव में अगर तुम पूछोगे कि दुनिया किसने बनाई, तो “दुनिया अहं ने बनाई, ब्रह्म ने नहीं बनाई।“ अभी आज हम बात कर रहे थे न, कि दुनिया तो भाई जिसको दिखे उसी के लिए है। तुम ब्रह्म से पूछोगे कि दुनिया किसने बनाई, ब्रह्म कह रहा है, “हैं? मेरे लिए तो

कोई दुनिया ही नहीं है। मेरे लिए तो सिर्फ़ मैं ही मैं हूँ, अखण्ड, अद्वैत।” ब्रह्म से पूछोगे, “दुनिया कहाँ से आई?” तो ब्रह्म क्या बोले, “है कहाँ दुनिया? हम ही हम हैं। तो दुनिया उसी के लिए होगी बाबा! जिसको दिख रही है।“

आचार्य: तो तुम्हीं ने बनाई दुनिया। बोले, “दुनिया कहाँ से आई?” “तन्ने ही तो बनाई।”

कोई ईश्वर नहीं चाहिए दुनिया बनाने के लिए, तुम्हारा अहंकार काफ़ी है; वही बना डालता है।

तो ब्रह्म गॉड नहीं है। ब्रह्म को सूचित करने वाला कोई शब्द दुनिया की किसी भाषा में नहीं है; ब्रह्म को और आत्मा को भी। आत्मा के लिए तो फिर भी अंग्रेज़ी ने ’सेल्फ’ (स्व) निकाल लिया। और सेल्फ ऐसे निकाल लिया कि अहंकार को सेल्फ नाम से सम्बोधित करते थे तो आत्मा के लिए सेल्फ में बड़ा एस लगा देते हैं। तो चलो किसी तरह से जुगाड़ करके काम चल गया, कि आत्मा के लिए बना दिया सेल्फ विथ अ कैपिटल एस , पर ब्रह्म के लिए तो कोई शब्द ही नहीं है, कहाँ से लाओगे?

उपनिषदों का उद्देश्य आपको किसी देवी-देवता तक या ईश्वर तक ले जाना नहीं है। उपनिषदों का उद्देश्य है- ब्रह्मविद्या; आप ब्रह्मविद हो जाएँ। और जो ब्रह्मविद हो गया वो ब्रह्म ही हो जाता है।

“जो समस्त देवों का अधिपति है”; वो जो ऊपर बैठा है वो नीचे के सब देवताओं का अधिपति है, ठीक वैसे जैसे तुम्हारा अधिपति है। क्योंकि वहाँ ऊपर से देखो तो ये नीचे के जितने देवी-देवता और ईश्वर हैं, और जितने राक्षस और असुर हैं, और जितने आदमी और जीव-जंतु हैं इनमें कोई अंतर नहीं है; क्योंकि ये सब कहाँ हैं? प्रकृति के तल पर। ब्रह्म की दृष्टि से चाहे ईश्वर हो और चाहे असुर हो, एक बराबर हैं, क्योंकि सब प्रकृति के तल पर हैं; सब आदमी की कल्पना के भीतर के हैं; सब कुछ करते हैं, कुछ नहीं करते हैं; सब आते हैं और सब जाते हैं।

इसीलिए तो फिर कबीर साहब ने बोला था न, कि “ऐसा नहीं है कि सिर्फ़ आदमी ही मरते हैं, सब चाँद-तारे भी मरते हैं और तुम्हारे जितने देवता हैं वो भी मरते हैं।“ क्या थीं पंक्तियाँ ठीक-ठीक?

प्र: “साधो ये मुर्दों का गाँव! पीर मरे, पैगम्बर मरि हैं, मरि हैं ज़िंदा जोगी, राजा मरि हैं, परजा मरि हैं, मरि हैं बैद और रोगी।

साधो ये मुर्दों का गाँव! चंदा मरि हैं, सूरज मरि हैं, मरि हैं धरणी आकासा, चौदह भुवन के चौधरी मरि हैं इन्हूँ की का आसा।

साधो ये मुर्दों का गाँव! नौहूँ मरि हैं, दसहूँ मरि हैं, मरि हैं सहज अठ्ठासी, तैंतीस कोटि देवता मरि हैं, बड़ी काल की बाज़ी।"

आचार्य: "तैंतीस कोटि देवता मरिहैं," ये बात समझ में आ रही है? ये देवता भी मरेंगे। काहे को मरेंगे? ये सब प्रकृति के तल पर ही हैं, तुम्हारे जैसे ही हैं; ये सब नाशवान हैं। अविनाशी कौन है? मात्र वो जो काल के परे है; क्योंकि काल के अंदर जो है काल उसको खाएगा।

तो इसीलिए देवी-देवताओं का पूजन, या ईश्वर का पूजन, ये कामचलाऊ चीज़ें हैं; वेदांत में इनका कोई विशेष महत्व नहीं। या इनका महत्व है भी तो बस एक माध्यम के तौर पर; कि एक ज़रिया हैं, एक तरीका, एक विधि हैं, कि इनके निकट आओगे तो उसके माध्यम से ऊपर जाने की सहूलियत हो सकती है, प्रेरणा मिल सकती है, लेकिन ये अंत नहीं हैं अपने-आपमें; कोई भी देवता अपने-आपमें साधना का अंत नहीं हैं।

साधना का अंत क्या है? देवता की प्राप्ति नहीं, अहंकार का अंत।

साधना का अंत है- अहं का अंत।

कल्पना, और कल्पना से आगे

आचार्य प्रशांत: जितनी दूर तक तुम्हारी कल्पना जा सकती है, (ब्रह्म) उससे आगे का है; और उसके आगे का हमें कुछ चाहिए, क्योंकि कल्पना जितनी भी दूर तक जाती है, अपने साथ कचरा ही लेकर वापस आती है। ब्रह्म सत्य हो न हो, हमारे लिए आवश्यक ज़रूर है, क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है वो तो काम आता दिख नहीं रहा; और ब्रह्म सिर्फ़ उन्हीं के लिए है जिन्हें ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ है वो काम आता न दिख रहा हो। ये बात समझिएगा अच्छे से। अगर आपको संतुष्टि वहीं मिल गई है जहाँ तक आपकी कल्पना जाती है, उसी क्षेत्र में आपको मिल गई संतुष्टि, तो आपको कल्पना का फिर उल्लंघन करने की ज़रूरत क्या है? फिर '*अणोरणीयान्*' (सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद) की आवश्यकता क्या है? अणु तक तो आपकी कल्पना जा रही थी न; अणु माने समझ लो पदार्थ का वो छोटे-से-छोटा टुकड़ा जो आदमी की कल्पना में, आदमी के सिद्धांतों में आ सकता है। और महत् समझ लो समूचे अंतरिक्ष का विस्तार; वो अधिकतम है जिसकी आदमी कल्पना कर सकता है। अगर इसी विस्तार में, अगर इसी क्षेत्र में, अगर इसी स्पेक्ट्रम (वर्ण-क्रम) में आपको शान्ति मिल ही गई, तो ब्रह्म का क्या करना है? जो चाहते थे वो यहीं मिल गया।

> ब्रह्म सिर्फ़ उनके लिए है जिनको अणु के भीतर भी खोज लेने के बावजूद चैन न मिले।

हम तो अधिक-से-अधिक यही कहते हैं न, "चप्पा-चप्पा छान मारेंगे"? अब चप्पा-चप्पा छानने में यही मतलब है कि यहाँ-वहाँ, कोने-कतरे, हर जगह देख लिया। खोजी ऐसा चाहिए जो एक-एक अणु, एक-एक एटम के भीतर भी घुसकर के खोज आए, कि, "कहीं यहाँ तो सत्य नहीं छुपा, कहीं यहाँ तो वो नहीं है जिससे मुझे शान्ति मिलेगी?" और वो वहाँ भी खोज ले और उसके बाद कहे, "नहीं मिला;" उसको मिलता है। ये वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, समझो। यूँ ही जो सस्ता विश्वास कर ले, जो ऐसी ही कही-सुनी धारणा पर चलता हो बस; उसके लिए नहीं है। पक्का अन्वेषक चाहिए, जो अणु के भीतर घुसकर खोज लाया है, और जो बिल्कुल बाहर तक निकल गया है। वो कह रहा है, "बताओ कहाँ है? बात क्या है? सच्चाई क्या है? जहाँ कहीं भी पदार्थ है मैं पूरा उसको जानना चाहूँगा।" न्यूक्लिअर-साइंस (नाभिकीय – विज्ञान) से लेकर के कॉस्मोलॉजी (ब्रह्मांड- विज्ञान) तक, सब एकसाथ शामिल हो गया इसमें।

माने ब्रह्म बस उनके लिए है जिनको सबसे पहले इस दुनिया की जानकारी गहराई से हो। और उससे मेरा मतलब सूचना इत्यादि नहीं है, कि सिकंदर ने किस साल भारत पर आक्रमण करा था; उन्हें संसार की प्रकृति का पूरा ज्ञान होना चाहिए: इस संसार का

स्वरूप क्या है? नेचर क्या है इसका? प्रकृति क्या है इसकी? वो बिलकुल पता होना चाहिए। जो उतनी गहराई से पता करता है सिर्फ़ वही गहराई से निराशा पा पाता है। औरों को चूँकि गहराई से कुछ पता ही नहीं होता, तो उन्हें फिर गहरी निराशा भी नहीं होती; उनकी उम्मीद बची रहती है न। भई तुम गए ही नहीं अणु के भीतर खोजने के लिए, तो तुम अपने-आपको ये उम्मीद देकर के बहला सकते हो कि, "अणु के भीतर है न अभी। हमने वहाँ तलाशा नहीं है, वहीं पर है, तो जब जाएँगे वहाँ तो मिल जाएगा; हमने आरक्षित कर रखा है, रिज़र्व्ड है वहीं, अणु के भीतर बैठा हुआ है वो। वो तो अभी तक हम वहाँ गए नहीं! लेकिन जिस दिन जाएँगे, मिल जाएगा।" अरे तुम जाओ तो, तुम्हें वहाँ भी नहीं मिलेगा।

तो पूर्ण निराशा सिर्फ़ उनको मिलती है, जो पूर्ण खोज करते हैं। पूरी खोज करने से फ़ायदा ये नहीं होगा कि तुम्हें मिल जाएगा; पूरी खोज करने से फायदा ये होगा कि तुम्हें पूरी निराशा मिल जाएगी।

खोज पूरी होती है निराशा के पूरे हो जाने पर।

"नहीं है भाई, नहीं है।" जो आलसी लोग होते हैं वो पूरा खोजते ही नहीं; वो एक तरह की बेईमानी है, कहते हैं, "पूरा खोज लिया अगर और नहीं मिला तो बदलना पड़ेगा, मिटना पड़ेगा। इससे अच्छा ये है कि पूरा खोजो ही मत; फिर चलेगा।"

कोई कीमती गहना घर में खो गया है, घर के नौकर से कहा गया है कि खोजो ज़रा। ये रात में बहुत देर से पता लगा कि वो गहना खो गया है; मान लो कोई अँगूठी है, आधी रात के बाद पता चला, "अरे, अँगूठी कहाँ है?" नौकर सोने जा चुका था, उसे जगाया गया, कहा, "हम भी खोज रहे हैं, तुम भी खोजो।" वो खोज रहा है, थोड़ी देर में वो कहता है, "सारे कमरे खोज लिए हैं, लेकिन आज आप वहाँ लॉन (मैदान) में बहुत देर तक थे न, और आप पौधों के साथ काम भी कर रहे थे, खुर्पी लेकर गुड़ाई भी कर रहे थे, तो वो लॉन में ही होगी, मिल जाएगी सुबह; लॉन में ही होगी, सुबह मिल जाएगी।" और ऐसा भरोसा दिलाकर के वो चला जाता है सोने।

उसके लिए बहुत ज़रूरी है ये आशा बनाकर के रखना कि अँगूठी लॉन में ही कहीं इधर-उधर गिरी हुई है, सुबह मिल जाएगी। ये आशा बनाकर रखनी क्यों ज़रूरी है? ताकि वो सोने जा सके। अगर लॉन में खोज ली और नहीं मिली, फिर क्या होगा? फिर तो रात भर ढुँढाई चलेगी, सड़क पर ढुँढाई चलेगी, पूरे मोहल्ले में ढुँढाई चलेगी; रात भर सोने को नहीं पाओगे। अगर सोना है तो एक ही तरीका है; चीज़ तो मिली नहीं है, सोना फिर भी है; चीज़ मिली न हो, फिर भी चैन की नींद सोना चाहते हो तो तरीका क्या है? अपने-आपको बोल दो, "मिली तो नहीं है, पर है वहीं पर, तो जब चाहेंगे खोज लेंगे।"

लेकिन अगर तुमने खोज लिया तो मुसीबत में पड़ जाओगे, क्योंकि खोजने जाओगे, पाओगे नहीं; अँगूठी *लॉन * में है नहीं, हम भरोसा यही दिलाए हुए हैं कि अँगूठी लॉन में है। इसीलिए आम आदमी कभी भी किसी भी चीज़ को गहराई से परखता ही नहीं है। वो यही मानता है—अपने-आपको यही मनवाए रहता है, कि, “मेरे ही घर का लॉन है, और उसमें मेरी वो अँगूठी पड़ी हुई है। हाँ, अँगूठी कीमती है, लेकिन अपने ही लॉन में है, कहीं गई थोड़े ही है। जब जी चाहेगा अँगूठी उठा लेंगे, यहीं सामने लॉन में है।"

तुम जिन भी चीज़ों को कीमती मानते हो बताओ वो तुमको पूरी तरह उपलब्ध हैं या उनकी बस उम्मीद है, या कल्पना भर है? कभी परखकर देखा है, कि वो चीज़ें वास्तव में तुम्हारे पास हैं भी क्या? तुम्हारे लिए, उदाहरण के लिए, बहुत कीमती बात है -सुरक्षा। हम रिश्ते बहुत सारे बनाते ही ये सोचकर हैं कि इनसे सुरक्षा मिलेगी। हम कहते हैं, “ये सब आड़े वक्त पर हमारे काम आएँगे,” है न, क्यों? बहुत सारे लोग तो शादी भी यही बोलकर करते हैं, कि बुढ़ापे में कोई रहेगा देखभाल करने के लिए। दोस्त-यार भी ऐसे ही बनाए जाते हैं, कि कौन काम आ जाएगा। यहाँ परखा तो कभी गया नहीं है, बस अपने-आपको ये बता दिया गया है कि जब चाहेंगे हमें इनसे मदद मिल जाएगी; जब चाहेंगे लॉन से अँगूठी उठा लेंगे। नहीं मिलेगी मदद, जैसे नहीं है लॉन में अँगूठी। कोई ही होता है जो बिल्कुल परखने जाता है, कि, “मेरे रिश्ते क्या मुझे वाकई वो दे पाएँगे जो मैं इनसे उम्मीद लगाए बैठा हूँ, चुपचाप मन में?” और जब वो परखता है तो उसको पता चलता है कि, लॉन में अँगूठी नहीं है भाई!

जैसे वाल्मीकि डाकू को पता चला था। उसने परख लिया एक दिन, पत्नी को पकड़ ही लिया। कहते हैं कोई ऋषि जा रहे थे जंगल से, उनको लूटने की कोशिश करी। ऋषि बोले, “लूट ले, लेकिन जिनके लिए लूट रहा है वो तेरे काम नहीं आएँगे।" डाकू बोला, “अगर आपकी बात सही है"—वाल्मीकि बोला, "अगर आपकी बात सही है तो आपको ससम्मान जंगल से बाहर निकालने की ज़िम्मेदारी मेरी है। लेकिन अगर आपकी बात ग़लत है, तो सर कटेगा आपका।" वो उनको बोलता है, “यहीं रुको!" दो-चार लोगों से अपने वहीं पकड़वा कर बोला, “यहीं रुके रहो। मैं घर जा रहा हूँ, पता करके आता हूँ, इन्होंने जो बोला सही है कि नहीं।" घर जाता है, पत्नी को पकड़ता है, बोलता है, “बता, ये जो मैं पाप कर रहा हूँ, मेरे साथ नर्क जाएगी?" पत्नी में भी न जाने कहाँ से ईमानदारी आ गई उस क्षण, वो बोलती है, “नर्क छोड़ दो, इन सब पापों के लिए तुम जेल जाओगे, मैं तो भी साथ नहीं जाऊँगी।" पता चल गया, कि लॉन में अँगूठी नहीं है बाबा! इतने दिनों तक माने ही बैठे थे कि अपना ही लॉन है, अपनी ही अँगूठी है। नहीं है; ज़िंदगी बदल गई।

जैसे कि कोई बेटा हो, बाप मर गया हो, और एक बंद तिजोरी छोड़ गया हो बेटे के लिए। उसको बोल गया हो, “इसमें बहुत सारी सोने की ईंटें हैं, निकाल लेना जब ज़रूरत होगी।“ और अब बेटा बिल्कुल काहिल हो गया है, और जितना पैसा तिजोरी से बाहर है

वो सारा फूँक रहा है, दबाकर के बिल्कुल, अय्याशी में, कुछ काम-धाम नहीं, सिर्फ़ अय्याशी। क्या भरोसा है उसको? तिजोरी में सोने की ईंट है। और तिजोरी की चाबी कहीं इधर-उधर रखी हुई है, वो खोलकर के जाँचना भी नहीं चाहता कि अंदर है कि नहीं; बाप जी बोल गए हैं तो होगा ही होगा। एक दिन कोई कोंची करता है, कि देख तो ले तिजोरी। वो खोलता है, देखता है ईंट तो है, वो ईंट ही है बस लेकिन; बाप राम ईंटें रख गए हैं दो-चार, तिजोरी के अंदर। अब ज़िन्दगी बदलनी पड़ेगी न, क्योंकि अब निराशा आ गई। वो निराशा हम आने नहीं देते, हम अपने-आपको पता ही नहीं लगने देते कि लॉन में अँगूठी नहीं है, क्योंकि उसके बाद मेहनत करनी पड़ेगी; इस लड़के को अब मेहनत करनी पड़ेगी, डाकू वाल्मीकि को ज़िन्दगी बदलनी पड़ी थी।

> उपनिषदों का काम है हमें झूठ के प्रति निराश कर देना।

इतना ही मत कह दो, कि, "ये जो ग्रन्थ हैं ये तो बड़ा निराश कर देते हैं।" साथ में ये भी बताओ किसके प्रति निराश करते हैं तुमको? झूठ के प्रति निराश करते हैं न! जो सोना तुम्हारी तिजोरी में है ही नहीं, उसके प्रति निराश करते हैं न! जब उस झूठे सोने के प्रति निराश हो जाओगे, तो फिर सम्भावना बनेगी कि अब जीवन में असली सोना कमा पाओ। समझ रहे हो न? जब लॉन में अँगूठी के होने की कल्पना से आज़ाद हो जाओगे, निराश हो जाओगे, तब संभावना बनेगी कि खोज पाओ कि वास्तव में अँगूठी कहाँ पर है। जो चीज़ है ही नहीं उसको सच मानकर के जो जी रहा हो, उसको कैसे कोई सुख मिलेगा? इसी को तो माया कहते हैं।

> माया का अर्थ है: उसको अस्तित्व-मान मान लेना जो है ही नहीं; जो है ही नहीं उसकी हस्ती को सच मान लेना ही माया है।

पचासों चीज़ें हैं जिन पर हमारा जीवन आधारित है, हम उन्हें कभी परखते नहीं। हो सकता है कि हम अपने व्यवसाय में बड़े जिज्ञासु किस्म के आदमी कहलाते हों, ज़बरदस्त तरीके के प्रश्न करते हों; कोई आप कॉर्पोरेट जॉब करते हैं, वहाँ आपका काम ही यही है कि आप गहरे, तीखे सवाल पूछें। खेद की बात ये है कि उतने ही सूक्ष्म, पैने सवाल हम कभी अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं पूछते, न हम उनसे पूछते हैं जो हमारे निकट के लोग हैं; और अपने-आपसे पूछने का तो सवाल ही नहीं पैदा होता।

वो सवाल बहुत ज़रूरी है कि पूछे जाएँ, ताकि हम जिन झूठे आधारों पर जी रहे हैं उनसे हमें आज़ादी मिले। एक बार को झटका लगता है, निराशा होती है, अफ़सोस होता है, ज़िंदगी की नींव हिल जाती है बिल्कुल; लेकिन फिर उसके बाद नया भवन खड़ा होता है । जो चीज़ जर्जर है, उसमें तुम रह तो वैसे भी सकते नहीं, या रह सकते हो? एक जर्जर-सी इमारत है, वो खड़ी हुई है, उसको देखकर के तो ऐसा लगता है कि वो इमारत

है; बाहर से हो सकता है तुमने लीपा-पोती करा दी उसमें, तो देखने से कैसा लग रहा है? कि वो भईया इमारत है, और तुम अपने-आपको ये दिलासा दिए हुए हो कि, "मेरे पास है, मेरे पास है;" वही, *लॉन * में अँगूठी है। तुमने अपने-आपको दिलासा दे रखी है, ताकि तुम्हें श्रम न करना पड़े, "मेरे पास इमारत है।" रह सकते हो उसमें? जो लॉन में अँगूठी है, उसको बेचकर के पैसा कमा सकते हो?

उस इमारत में तुम रह नहीं सकते, क्योंकि वो इस काबिल नहीं है कि उसमें रह सको। लॉन में जो अँगूठी है उसको बेचकर कुछ कमा नहीं सकते, क्योंकि लॉन में अँगूठी है ही नहीं। तो वैसे भी ये जो चीज़ है वो तुम्हारे किसी काम की तो है नहीं, तो इसको अगर ढहा दिया ऋषियों ने, तो कुछ बुरा करा तुम्हारे साथ? वो जो लॉन में अँगूठी थी जिसके प्रति ऋषियों ने तुम्हें निराश कर दिया, अरे बाबा वो थी कहाँ? पर तुम अभियोग ये लगाओगे कि, "मेरे लॉन में अँगूठी थी, और मैं तो बड़ा खुश रहता था, इन ऋषियों ने आकर के साबित कर दिया कि कोई अँगूठी नहीं है; बड़े बुरे हैं।" हैं? थी कब अँगूठी ? तुम कह रहे हो, "इन्होंने मेरी अँगूठी छीन ली।" वो तुम्हारी कल्पनाओं में थी, तुम्हारी कल्पना छीन ली न? तुम्हारा झूठ छीन लिया, अँगूठी नहीं छीन ली, क्योंकि अँगूठी तो तुम्हारे पास कभी थी ही नहीं।

लोग आते हैं, कहते हैं, "आचार्य जी, जब से उपनिषद् पढ़े हैं, तब से वो, सम्बन्धों में दरार आने लग गई है।" अरे, दरार कैसे आएगी? हवा में कभी दरार आते देखी है? कुछ होगा तो न दरार आएगी? वो सम्बन्ध थे ही नहीं, काल्पनिक थे। दरार क्या है? तुम माने बैठे थे कि लॉन में अँगूठी है, तुम माने बैठे थे कि कोई सम्बन्ध है; वो जो तुम्हारी झूठी मान्यता थी, अध्यात्म ने वो तोड़ी है, तुम्हारा सम्बन्ध थोड़े ही तोड़ दिया अध्यात्म ने? अध्यात्म तो सुन्दर और सुदृढ़ सम्बन्ध बनवाता है। वो तो सिर्फ़ झूठ को तोड़ता है; और झूठ माने वो जो है ही नहीं। तो जो सम्बन्ध था ही नहीं, उसके न होने को अगर उजागर कर दिया उपनिषदों ने, तो तुम्हारे साथ बुरा करा कि अच्छा करा?

एक खोखली जर्जर इमारत, उसमें रंग-रोगन कराकर के तुम खुश होते रहते थे कि मैं तो देखो इस इमारत का मालिक हूँ। उससे तुम्हें मिल क्या रहा था? बस एक झूठा आश्वासन। रह सकते थे उस इमारत में? एक रात भी सो सकते थे? उसकी छत पर बैठ सकते थे? दिल-ही-दिल में तुम्हें पता तो था ही कि इस इमारत की हैसियत क्या है, उसके आस-पास भी टहलते तो ज़रा दस फ़ीट की दूरी बनाकर, कि क्या पता कब कौन-सी ईंट गिर पड़े। ऋषियों ने आकर इमारत गिरा दी; अब कम-से-कम नई नींव खुदेगी, नई इमारत खड़ी होगी। लेकिन कृतज्ञ होने की जगह हम क्या कहते हैं, "अरे! मेरा ताजमहल गिरा दिया;" ताजमहल नहीं था, हवा-महल था; महल ही नहीं था, कुछ नहीं था वो।

समझ में आ रही है बात कुछ?

असत्य के प्रति, झूठ के प्रति निराश हो जाना बहुत ज़रूरी है। जब तक झूठ से ही आशा लगी हुई है सच की, तब तक सच न तुम्हें चाहिए, न तुम्हें मिलेगा। अध्यात्म बस यही सीधे-सीधे कहता है, “बुद्धू मत बनो, कितना बुद्धू बनाते हो खुद को?” ये जैसे समझ लो कि प्रथम श्लोक है, क्या? “कितना बुद्धू बनाते हो खुद को?”

लॉन क्या है? अतिशय सूक्ष्म से अतिशय बृहद के बीच में जो कुछ भी आता है, वो लॉन है; वहाँ अँगूठी नहीं है। तो ऋषि कह रहे हैं कि, “सत्य सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर, और बृहद से भी बृहदतर है;” माने तुम्हारे लॉन से बाहर है अँगूठी बाबा! ये लॉन है, जितना इस मेज की सतह है, ये क्या है? लॉन । इधर (बाईं ओर) मामला सूक्ष्म, सूक्ष्म, और सूक्ष्म होता जाता है, और उधर (दाईं ओर) मामला महत्, महत्, और महत् होता जाता है। तुम सोच रहे हो, “यहीं पर (मेज पर) है, वो जो मुझे चाहिए, मूल्यवान अँगूठी।“ ऋषि कह रहे हैं, “न। ‘*अणोरणीयान्*’: अणु से भी छोटा है; उस तरफ़ होगा (मेज के बाएँ ओर से बाहर)। या ‘महतो महीयान् ': महत् से भी महत् है; तो उस तरफ़ होगा (दाएँ तरफ बाहर)। यहाँ (मेज पर) तो नहीं है।“ और ये (मेज) क्या है? ये हमारा संसार है, हम कह रहे हैं, “यहीं मिल जाएगा;” यहाँ नहीं मिलना है, यहाँ नहीं है; मानो तो, कि यहाँ नहीं है। “अच्छा, संसार में नहीं है, माने संसार छोड़ना पड़ेगा क्या?" नकली संसार छोड़ना पड़ेगा।

तुम जैसे हो, तुम्हारे सामने वैसी ही मेज रहेगी; तुम और मेज एक हो। ये बहुत मूलभूत सिद्धांत है, कम्प्लीट सब्जेक्टिविटी ; माने ऑब्जेक्ट कुछ होता ही नहीं, सब्जेक्ट ही सब कुछ है; विषय कुछ नहीं होता, विषयेता ही सब कुछ है। तो ये जो मेज है, ऑब्जेक्ट , ये (स्वयं के शरीर की ओर इशारा करते हुए) इस सब्जेक्ट का ही प्रक्षेपण है, प्रोजेक्शन है। तो मेज नकली है न, झूठी है न, मेज में सच नहीं है? माने कौन झूठा है? मैं झूठा हूँ। जब तक मैं मैं हूँ तब तक मेज मेज रहेगी; मेज में अगर सच नहीं मिल रहा, मतलब सच कहाँ नहीं है? मुझमें सच नहीं है। तो ऐसा नहीं कि ऋषि तुमसे कह रहे हैं कि, “इस मेज में नहीं है, दूसरी मेज ले आओ वहाँ मिल जाएगा। इस संसार में नहीं है, चलो संसार बदल लो। इस घर में नहीं है, चलो घर बदल लो। इस शहर में नहीं है, चलो शहर बदल लो।“ न, तुम जैसे हो, तुम अपने सामने अपने जैसी ही मेज रखोगे। इस मेज में नहीं मिल रहा, माने समझ लो तुम ही ग़लत हो। तो बदलना किसको है? स्वयं को। मेज के इस सिरे के पार जाना है, मेज के उस सिरे के भी पार जाना है: माने अपने सिरों के पार जाना है, अपने पार जाना है। बाहर ढूँढने से नहीं मिलेगा; कितनी भी मेजें बदलते रहो, कोई लाभ नहीं।

तो स्वयं को बदलना होगा; अन्यथा जगह बदलते रहो, संसार बदलते रहो, कोई लाभ नहीं होगा।

और हम डरते क्या हैं? हम कहते हैं कि, "ऋषि तो कह रहे हैं संसार में है नहीं, तो क्या संसार छोड़ दें? वैराग्य ले लें? जाएँ तो जाएँ कहाँ? ऐसे तो सब लोग छोड़कर जाने लगे तो आदमी की प्रजाति का क्या होगा?" लोगों को ऐसे-ऐसे सवाल उठते हैं। संसार कोई एक चीज़ थोड़े ही होता है, तुम जैसे हो वैसा संसार है। और तुम झूठे हो इसीलिए तुम्हारा संसार भी झूठा है, और तुम झूठे हो इसीलिए तुम्हारे संसार में अँगूठी है नहीं; तुम्हें बदलना है। तुम बदलो, एक नया संसार अपने-आप खड़ा हो जाएगा, और उस नए संसार में बिल्कुल तुम्हारे जैसी और जितनी ही गुणवत्ता होगी; तुम फिर सच्चे हो तो संसार आ जाएगा सच्चा। क्या उस संसार में अँगूठी होगी? हो सकती है अँगूठी संसार में, अगर वो पहले तुम्हारे भीतर हो; ये निर्भर इस पर करता है कि तुम अँगूठी को मूल्य कितना देते हो। तुम अँगूठी को मूल्य दे दो, अपने भीतर स्थापित करलो, वो तुम्हारे संसार में—तुम्हें फिर हर जगह मिलेगी; भीतर नहीं है तो बाहर नहीं मिलेगी।

बाहर जिन्हें नहीं मिल रही हो, वो समझ जाएँ कि बाहर मिल इसलिए नहीं रही है क्योंकि सर्वप्रथम भीतर नहीं है।

मुक्ति माने क्या?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, अभी जो सत्य और माया की हार-जीत की बात हो रही थी, कि सौ बार अगर माया जीतती है तो एक ही बार सत्य जीतता है, तो उसमें मेरा प्रश्न ये है कि जो आख़िरी जीत है, उसकी कोई निशानी होती है? क्योंकि कई बार ऐसा होता है कि माया सत्य का कोई चोला पहनकर आ जाती है, या कभी लगता है कि अब समझ आ गया, लेकिन फिर मेरा ख़ुद ही नॉक आउट हो जाता है और फिर दोबारा यात्रा शुरू हो जाती है। तो कोई अंतिम बिंदु समझ आ जाएगा कि 'हाँ, अब ये समझ आ गया, अब रुकना है'?

आचार्य प्रशांत: तुम पूछ ये रहे हो, 'मुझे पता कैसे चलेगा, मैं मुक्त हो गया?'

प्र: बीच में लगता है कि हाँ, अब थोड़ा शांत है, फिर कुछ होता है और फिर आगे शुरू हो जाती है दोबारा। तो वो आख़िरी ठहराव कैसे पता लगती है कि अब आ गया?

आचार्य: ये सवाल नहीं उठता। जैसे किसी से पूछना नहीं पड़ता न कि 'क्या मुझे प्यास लगी है?' वैसे ही। जैसे किसी दूसरे नहीं पूछना पड़ता न, 'क्या मैं ज़िंदा हूँ?' वैसे ही। वो चीज़ बहुत-बहुत स्पष्ट होती है। सम्भव है कि तुम्हें इस चीज़ में भी धोखा हो जाए कि तुम्हें प्यास लगी है कि नहीं लगी है, पर मुक्ति में धोखा नहीं हो सकता क्योंकि धोखे से ही मुक्ति होती है। अगर अभी तुम्हें धोखा ही हो रहा है तो तुम धोखे से मुक्त कहाँ हुए!

और ऐसा नहीं है कि मुक्त पुरुष को किसी चीज़ के बारे में धोखा नहीं हो सकता। उसे धोखा हो सकता है, इस चीज़ के बारे में, उस चीज़ के बारे में। तुम बाहर-बाहर, ये पीछे एक एसी (वातानुकूलक) लगा है, तुम बाहर-बाहर एसी का कवर (आवरण) रखो, अंदर हीटर (तापक) लगा दो, उसे धोखा हो सकता है; वो सोचेगा, 'एसी है', अंदर हीटर लगा हुआ है।

उसे अपने बारे में लेकिन तुम धोखा नहीं दे सकते; उसे उसके बारे में तुम धोखा नहीं दे सकते, बाहर की चीज़ों के बारे में तो धोखा हो ही सकता है।

प्र: एक स्पष्टता आ जाती है।

आचार्य: शून्यता! अपने बारे में विचार करने की कोई ज़रूरत नहीं बचती। 'मैं' नाम का मुद्दा ख़त्म हो जाता है। उसके पास मुद्दे रहेंगे, पर वो सब बाहरी मुद्दे रहेंगे। ये मुद्दा ज़रूर हो सकता है कि वो एसी ख़राब है, उसको बनवाना है भाई। ये मुद्दा भी हो सकता है कि फ़लानी चीज़ पढ़ी नहीं, पढ़नी ज़रूरी है, उसकी जानकारी चाहिए। लेकिन

एक मुद्दा हमेशा के लिए निपट जाता है, कौनसा? 'मैं' – 'मैं' सम्बन्धित अब कोई अड़चन, जिज्ञासा, कलह-क्लेश नहीं रह जाता। ‘मेरा क्या होगा? मैं कौन हूँ? मैं कहाँ जाऊँ? मैं क्या करूँ? मैं इतना छोटा क्यों हूँ? मेरे साथ ही बुरा क्यों होता रहता है? मैं बेहतर कैसे हो जाऊँ?’ – ये सब सवाल समाप्त हो जाते हैं। यही मुक्ति है।

मुक्ति, याद रखना, 'मैं' से होती है। बाक़ी इधर-उधर की चीज़ों से ये मत समझ लेना कि आदमी मुक्त हो गया है, तो ‘अच्छा! ये मुक्त होकर भी पानी पी रहे हैं! पानी क्यों पी रहे हैं मुक्त होकर?’ पानी तो पिएगा, कुर्ता भी पहनेगा, मास्क भी लगाएगा, वायरस (विषाणु) से थोड़े ही मुक्त हो गया है! अहंकार से मुक्त हुआ है। तो मास्क तो तब भी लगाएगा। ठीक है?

और मुक्ति माने ये भी नहीं होता कि हवा में उड़ने लगोगे। कहें, ‘अब तो ये ग्रैविटी (गुरुत्वाकर्षण) से भी मुक्त हो गए होंगे! हवा में उड़ेंगे।‘ नहीं, हवा में नहीं उड़ेगा, वायरस भी लगेगा, बीमारी भी लगेगी, शरीर एक दिन मरेगा भी, काटोगे तो ख़ून भी आएगा। ये बात ही मुझे बहुत अजीब लग रही है कि ये सब भी कहना पड़ रहा है, पर ये सब कहना इसलिए पड़ रहा है क्योंकि इस तरह के अन्धविश्वास खूब चल गए हैं कि जो आगे बढ़ जाते हैं उनको काटो तो दूध निकलता है!

प्र: नमन, आचार्य जी। मेरा इसी से सम्बन्धित प्रश्न है कि क्या आख़िरी एक पड़ाव होगा या फिर क्या एक आख़िरी निशानी होगी जिससे मुक्ति का पता चलेगा? आपने बताया कि ये उसको स्पष्ट पता होगा कि हो गया, तो हो गया।

आचार्य: नहीं, उसको पता भी नहीं होगा। उसे पता भी नहीं होगा, क्योंकि ये मुद्दा ही नहीं होगा। ये मुद्दा ही नहीं होगा कि ‘मैं मुक्त हूँ या नहीं हूँ?’ सवाल ही ख़त्म हो गया। ना तो वो ये कहेगा कि ‘मैं मुक्त हूँ’, ना वो ये कहेगा, ‘मुझे मुक्त होना है।‘ उसे इस तरह के ना तो अब प्रश्न में रुची है, ना दावे में। ना तो वो ये कहेगा, ‘मुझे मुक्ति चाहिए’, और ना ही वो ये दावा करेगा कि ‘मैं मुक्त हो गया।‘ क्योंकि इन दोनों ही दावों में अभी कौनसा शब्द मौजूद है? 'मैं'।

वो 'मैं' की ओर अब ध्यान ही नहीं दे रहा। 'मैं' अब एक नॉन इशू (गैर मुद्दा) हो गया है, 'मैं' नामौजूद हो गया है, वो उसके बारे में बात ही नहीं करना चाहता। जो चीज़ है ही नहीं, उसकी क्या बात!

प्र: जी, तो मेरा प्रश्न ये था कि कामनाएँ तो तब भी रहेंगी?

आचार्य: हाँ, रह सकती हैं।

प्र: रह सकती हैं? तब दिक़्क़त नहीं होगी कि वो ग़लत जी रहा है या सही जी रहा है?

आचार्य: कोई भी कामना फिर 'मैं' की पूर्ति के लिए नहीं होगी, फिर उनमें से कोई भी कामना इसलिए नहीं होगी कि ‘मुझे फ़लानी चीज़ मिल जाए तो 'मैं' बेहतर हो जाऊँगा!’ वो तो बाहरी-बाहरी कामनाएँ होंगी। अरे! वही सब जो तुम कहते हो कि कर्म परमार्थ के लिए होगा, फिर स्वार्थ के लिए नहीं होगा। वैसे ही कामना भी होगी, परमार्थ के लिए होगी, स्वार्थ के लिए नहीं होगी, क्योंकि 'स्व' ही मिट गया। 'मैं' है नहीं, तो अब 'मैं' की कौनसी कामना!

और ये भी हो सकता है कि तुम पाओ कि वो बड़े-बड़े अभियानों में लगा हुआ है, ये कर रहा है, वो कर रहा है, यात्राएँ इधर-उधर, पचास चीज़ें! सब हो सकता है। ये बात नहीं है कि ‘क्या बड़े-बड़े काम हो रहे हैं?’ बात ये है कि वो बड़े काम किसके लिए हो रहे हैं? 'मैं' के लिए नहीं हो रहे होंगे। और अगर छोटे भी काम 'मैं' के लिए हो रहे हैं तो वो बंधन में है और बहुत बड़े-बड़े काम भी हो रहे हैं, 'मैं' के लिए नहीं, तो मुक्त है।

तो ये नहीं देखना है कि बड़े काम कर रहा है, छोटे काम कर रहा है, ये है, वो है, यहाँ आ रहा है, जा रहा है, ऐसा कर लिया, वैसा कर लिया; ये देखना है कि किसके लिए? किसके लिए है ये सबकुछ?

एक आदमी चार-सौ करोड़ का घर बनाता है, ठीक है? और एक हो सकता है जो चार-सौ करोड़ का विश्वविद्यालय बना दे, अंतर समझना, ये अंतर है। और एक आदमी हो सकता है जो सिर्फ़ चालीस लाख का घर बना रहा है। इनमें से दो एक जैसे हैं और एक बिलकुल अलग। दो एक जैसे कौन हैं?

क्या फ़र्क़ पड़ता है कि तुम्हारा घर चार-सौ करोड़ का है या चालीस लाख का है! बना तो 'मैं' के लिए है। और एक दूसरा आदमी है जो हो सकता है चार-सौ करोड़ इकट्ठा कर रहा हो, पर 'मैं' के लिए नहीं कर रहा है वो – ये अंतर है।

अहं ब्रह्मास्मि

~ बृहदारण्यक उपनिषद्, प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण, श्लोक क्रमांक १०

आचार्य प्रशांत: उपनिषदों की ज्ञात संख्या दो-सौ से ऊपर की है। उनमें भी जो मान्य उपनिषद् हैं मुक्तिका से, वो एक-सौ-आठ हैं। फिर इन एक-सौ-आठ में से भी कभी ग्यारह को, कभी तेरह को प्रमुख उपनिषद् गिना जाता है। अधिकांश उपनिषद् अति संक्षिप्त हैं। लेकिन फिर भी इनकी संख्या इतनी बड़ी है कि कुल मिलाकर श्लोक कई हज़ार हो जाते हैं।

और सब उपनिषद् संक्षिप्त भी नहीं हैं। छांदोग्य है, बृहदारण्यक है, और इसी तरह से कई जो आरंभिक उपनिषद् हैं वो सैंकड़ों सूत्रों के हैं। तो प्रश्न फिर यह उठता है कि इतने सारे सूत्रों में से किन सूत्रों को बिलकुल केंद्रीय मानें?

और देखा जाए तो सभी सूत्र केंद्रीय हैं। पढ़ने वाला अगर मर्मज्ञ हो तो सब श्लोकों में उसे एक ही बात दिखायी देगी। पर ऐसा होता नहीं है, पढ़ने वाले की ओर से अंतर होता है। जिन्होंने हमें श्लोक दिए थे उनकी ओर से अंतर नहीं है। वो तो एक ही बिंदु से अपनी बात कह रहे थे, तो अलग-अलग श्लोकों में भी उन्होंने बात एक ही कही है।

लेकिन पढ़ने वाले की ओर से अंतर होता है। पढ़ने वाले के लिए कुछ श्लोकों में उपनिषदों का मूल संदेश एकदम शुद्ध, स्पष्ट, और प्रकट हो जाता है। और कुछ श्लोकों में उतना अधिक नहीं होता। ये अंतर पढ़ने वाले की ओर से है।

तो कुछ प्रमुख श्लोकों को फिर महावाक्य का स्थान दिया गया है। इस पर भी कोई एक मत नहीं है कि महावाक्य कौनसे होंगे। हम जिनको आमतौर पर महावाक्य कहते हैं, चार महावाक्य, वो वेदांत की अद्वैत धारा के हैं।

जिसमें 'तत्त्वमसी', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयं आत्मा ब्रह्म' आते हैं। ये अद्वैत वेदांत की ओर से महावाक्य हैं। दूसरी धाराओं में दूसरे लोगों ने अन्य उक्तियों को महावाक्य का स्थान दिया है, जैसे 'सोऽहं'। लेकिन कुल मिला-जुला करके ये स्पष्ट है कि कुछ मुट्ठी भर श्लोक ऐसे हैं जिनको बड़ी सार्वजनिक मान्यता मिली है, उपनिषदों का केंद्र होने को लेकर के।

तो समूचे वेद सब लोग नहीं पढ़ते। उपनिषद् भी इतने ज़्यादा हैं कि शायद सब लोग ना पढ़ें। पर ये जो दस, बीस या पच्चीस प्रमुख श्लोक हैं, प्रमुख उक्तियाँ हैं उपनिषदों

से, जिनको हम महावाक्य का स्थान देते हैं, अगर हम इनको भी समझ लें, तो बात गागर में सागर जैसी हो जाएगी।

तो श्रृंखला का आज आरंभ करते हैं। और जो पहला महावाक्य हम लेंगे वो है 'अहं ब्रह्मास्मि', बृहदारण्यक उपनिषद् से है। 'अहं ब्रह्मास्मि' अद्वैत वेदांत की ओर से है।

‘मैं जानूँ, या ना जानूँ? अहम् – मैं, अहम् – मैं, जानूँ या ना जानूँ? मैं वो नहीं हूँ जो मैं स्वयं को समझता हूँ। तो क्या हूँ मैं? मैं वो हूँ जिसके बारे में कोई बात नहीं हो सकती।' इंद्रियाँ जिसके विषय में कोई सूचना नहीं दे सकती, मन जिसका चिंतन नहीं कर सकता, उसको ब्रह्म कहा गया है। 'मैं अपनेआप को जो कुछ भी जानता-सोचता हूँ वो बदलता रहता है; वो अनित्य है, वो सत्य नहीं हो सकता।’

'अहं ब्रह्मास्मि' ये बताने के लिए नहीं है कि आप ब्रह्म हो। 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा ही नहीं है कि जैसे आप राजू को बता दो कि "तुम रमेश हो।" 'अहं ब्रह्मास्मि' राजू को एक दूसरी नयी पहचान देने के लिए नहीं है। ब्रह्म का रमेश, सुरेश आदि से कोई ताल्लुक नहीं। 'अहं ब्रह्मास्मि' वास्तव में नकार की बड़ी साहसी दहाड़ है। "मैं देह नहीं हूँ। मैं मेरे विचार नहीं हूँ। मैं इस संसार का एक जीव नहीं हूँ। मैं दो व्यक्तियों से उत्पन्न एक देह नहीं हूँ। मैं मृत्यु की ओर लगातार बढ़ता अस्तित्व नहीं हूँ।"

अब एक रिक्तता आ जाती है। "तो क्या हूँ मैं?" उस रिक्तता को भरने के लिए नाम दे दिया 'ब्रह्म'! "ब्रह्म हूँ मैं।" निश्चित रूप से ये बड़ी ऊँची और आख़िरी बात है और ये कहने का अधिकार, 'अहं ब्रह्मास्मि', सिर्फ़ उसी को है जो सबसे पहले नकार की उस साहसी और कठिन प्रक्रिया से गुज़र चुका हो, जिसने मूल्य चुकाया हो।

जिसका अहम् अभी कह रहा है कि 'मैं देह हूँ। देह अस्मि!' वो 'ब्रह्म अस्मि' कैसे बोल देगा? 'मैं देह हूँ' - जो अभी 'देह हूँ' बोल ही रहा है वो 'ब्रह्म हूँ', कैसे बोल देगा? दोनों बातें एक साथ चलेंगी ही नहीं। जो अभी अपने आपको अपने नाम से ही संबोधित करता हो, ‘मैं कौन हूँ? मैं रघु हूँ।’ ये दोनों बातें एक साथ चलेंगी ही नहीं। आप रघु हो, तो आप ब्रह्म कहाँ से हो गए?

तो अति संक्षिप्त, अति सुंदर, अति गूढ़ और अति प्रचलित सूक्ति है ये उपनिषदों से, लेकिन साथ-ही-साथ ये अति दुरुपयुक्त उक्ति भी है।

'अहं ब्रह्मास्मि' कहने का अर्थ होता है कि 'मैं जैसा था वैसा मैं बचा नहीं। संसार मुझे जैसा दिखता था वैसा अब दिखता नहीं, क्योंकि मैं जैसा हूँ संसार मुझे उसी के अनुसार दिखता है।' जो अभी वैसा ही है लगभग जैसा वो अतीत में होता था, जो अभी

वैसा ही है लगभग जैसा उसकी देह ने सदा उसको बताया है; उसके लिए अनाधिकार होगा कहना 'अहं ब्रह्मास्मि'।

उसके लिए 'अहं ब्रह्मास्मि' अधिक-से-अधिक एक चेतावनी हो सकती है। 'फँसो मत! याद रखो!'। तुम्हें एक मंत्र दिया जा रहा है जो तुम्हें बचाएगा। जब लगे कि तुम ये हो कि तुम वो हो, तो तत्काल स्मरण कर लेना, 'अहं ब्रह्मास्मि'। इससे दुनियाभर के तमाम तरह की पहचानों का जो ज़हर होता है, वो तुम पर ज़रा कमज़ोर हो जाएगा।

जैसे ज़हर उतारने की, विष काटने की दवा हो 'अहं ब्रह्मास्मि'। तो 'अहं ब्रह्मास्मि' का हमारे लिए यही उपयोग है। जब दुनिया बहुत हावी हो रही हो, जब मन बहुत चंचल हो रहा हो, जब तमाम तरह की पहचानें और संबंध सर चढ़कर बोल रहे हों तब अलार्म की तरह घनघना उठे, 'अहं ब्रह्मास्मि!' मंदिर की घंटी की तरह बज उठे, गूँज उठे, 'अहं ब्रह्मास्मि!' जैसे कोई झिंझोड़कर आपको जगा दे, 'अहं ब्रह्मास्मि!' ऐसा नहीं है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' याद कर लेने भर से आप देह और संसार के पाश से पूरी तरह मुक्त हो जाएँगे, पर कुछ सहायता मिलेगी।

और अगर आप वाकई मुक्ति के इच्छुक हैं, तो आप उस सहायता को बार-बार लेंगे, बार-बार लेंगे। उस सहायता का आप अभ्यास करेंगे। और अभ्यास करते-करते फिर मुक्ति मिल ही जाती है। तो 'अहं ब्रह्मास्मि' को आप अपने यथार्थ की तरह ना लें। 'अहं ब्रह्मास्मि' को एक बहुत दूरस्थ आदर्श की तरह लें। ‘ब्रह्म हूँ नहीं मैं, पर होना था। देह, जीव, पुरुष, स्त्री, बच्चा, बूढ़ा, हूँ नहीं मैं, पर बन गया हूँ।’

जो झूठ हमने पहन लिया है, उसको उतारकर जो सच हमारा स्वभाव है, उसकी ओर ले जाने का सूत्र है 'अहं ब्रह्मास्मि'। ये सूत्र लेकिन आपके काम नहीं आएगा अगर आपने असमय ही घोषणा कर दी कि ‘मैं तो ब्रह्म हूँ ही।’

ये सूत्र उन्हीं के काम आएगा जो सबसे पहले स्वीकार करें कि वो ब्रह्म नहीं हैं, वो तो कुछ और ही बने बैठे हैं। अमीर, गरीब, बाप, भाई, माँ, कुछ भी। जितनी ऊँची बात है 'अहं ब्रह्मास्मि', उतनी ही सावधानी बरतनी चाहिए इसका अर्थ करने में और इसके उपयोग में। अगर आपमें मुक्ति की उत्कट अभिलाषा है, और अपने यथार्थ के प्रति ईमानदारी और संवेदनशीलता है, तो ये संक्षिप्त सा सूत्र 'अहं ब्रह्मास्मि' अपने-आपमें समर्थ है आपका जीवन बदल देने में, आपको मुक्त कर देने में।

तत्त्वमसि

~ छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, अष्टम खण्ड, श्लोक क्रमांक ७

आचार्य प्रशांत: 'तत्त्वमसि', छान्दोग्य उपनिषद् से। 'तुम वह हो', *दैट यू आर*। "मैं कौन हूँ? मेरी पहचान क्या है?" इसका उत्तर दिया जा रहा है। दुनिया में जो कुछ भी हो सकता है, उसका एक नाम होता है। अपने विषय में आप अपनी पहचान को बताते हुए जो कुछ भी बोलेंगे उसका एक नाम होगा। आप कहेंगे 'मैं मनुष्य हूँ, मैं पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, मैं प्रौढ़ हूँ, मैं युवा हूँ, मैं आस्तिक हूँ, मैं नास्तिक हूँ, अमीर हूँ, गरीब हूँ।'

बहुत आसान है ये सब कहना और बहुत प्राकृतिक है ये सब कहना, क्योंकि इस तरह की पहचान हम गर्भ से ही लेकर के पैदा होते हैं। पहली पहचान तो शरीर ही हो जाती है न। हम कह देते हैं, 'मैं शरीर हूँ'। तो 'मैं शरीर हूँ' से शुरुआत होती है और उसके बाद फिर बाकी सब कुछ आ जाता है, 'मैं ज़्यादा पढ़ा-लिखा हूँ, मैं कम पढ़ा-लिखा हूँ'। ऋषि यहाँ कह रहे हैं, 'मैं वह हूँ'। तत्, तत् हूँ मैं, *दैट*। नाम नहीं दे रहे। ये नाम ना देने में ही सारा भेद है।

'मैं वह हूँ'। 'मैं वो हूँ जिसको कोई नाम नहीं दिया जा सकता'। संसार में जो कुछ भी है उसको नाम दिया जा सकता है। तो माने शरीर और संसार से संबंधित मैंने अपनी जितनी पहचानें बना ली हैं, मैं उनमें से कोई नहीं हूँ। 'मैं वह हूँ!' मैं वह हूँ जिसका कोई नाम नहीं।

जो कुछ भी मन के दायरे में आएगा उसको नाम दिया जा सकता है। आप अपनी कल्पनाओं को भी नाम दे सकते हैं। आप वस्तुओं, व्यक्तियों को तो नाम देते ही हैं। आप विचारों, कल्पनाओं, भावों को भी नाम दे सकते हैं। मन की सीमा में जो कुछ आ गया उसको नाम दिया जा सकता है। तो मैं कुछ ऐसा हूँ जो मन के आगे का है। मैं कुछ ऐसा हूँ जिसके बारे में मन सोच भी नहीं सकता। वो मेरी पहचान है असली।

'तो अगर वो मेरी पहचान है, तो मैं यहाँ क्या कर रहा हूँ? संसार में क्या कर रहा हूँ?'

आप चूँकि अपनी वास्तविक पहचान नहीं जानते इसलिए आप संसार में तृप्ति खोज रहे हो। आप यह कर रहे हो संसार में, इसको हम जीवन कहते हैं। वो वास्तव में एक खोज है। लेकिन वो उल्टी खोज है, वो व्यर्थ दिशा में खोज है।

हमें लगता है हम बस जी रहे हैं। हम जी नहीं रहे हैं। अगर हम अपने मन की गहराइयों का थोड़ा सा परीक्षण कर पाएँ तो हमें पता चलेगा कि हम जीते नहीं हैं, हम खोजते हैं। प्रतिपल मन कुछ खोजने में लगा हुआ है। हमें कुछ चाहिए।

तो हम एक झूठी पहचान लेकर के पैदा होते हैं। 'मैं शरीर हूँ, मैं जीव हूँ।' वो पहचान हममें अधूरापन संचारित करती है। 'मैं अधूरा हूँ'। 'मैं शरीर हूँ' माने मैं अधूरा हूँ। तो फिर हम जो पूरा जीवन जीते हैं उसमें बस हम पूरापन खोजते हैं। ये कर रहे हैं हम इस दुनिया में।

ये पूरापन मिलेगा नहीं क्योंकि आप दुनिया में अपनी जो भी पहचान खोजोगे वो मन के भीतर की ही होगी। और मन स्वयं से ही संतुष्ट नहीं है तो अपने भीतर की किसी पहचान से संतुष्टि कैसे मिल जाएगी उसको? उसने तो खोजने की शुरुआत ही इसलिए करी थी क्योंकि वो स्वयं से ही परेशान था।

स्वयं से ही परेशानी का दूसरा नाम जन्म है। जन्म का अर्थ होता है परेशानी का जन्म होना। 'मैं स्वयं से संतुष्ट नहीं हूँ तो मैंने अपने इर्द-गिर्द एक संसार खड़ा करा। मैं उस संसार में संतुष्टि खोजूँगा', ये जन्म है। संतुष्टि खोज रहे हैं उल्टी दिशा में। ये उन लोगों की कहानी होती है जो काम बहुत करते हैं। जो कहते हैं, "हम तो कर्मठ लोग हैं, हम कर रहे हैं।"

तो उपनिषद् इसीलिए ज्ञान बताते हैं। वो कहते हैं, "कर क्या रहे हो? पहले ये तो देखो किस दिशा में कर रहे हो।" ज्ञान नहीं है तुम्हें, अपनी पहचान नहीं जानते। किस दिशा में कर्म करना है, कुछ नहीं जानते, कोई ज्ञान नहीं है। तुम जो करोगे वो तुम्हें भारी ही पड़ेगा। तो तुम्हारी अतृप्ति इसलिए नहीं है कि तुमने कुछ इकट्ठा नहीं कर लिया दुनिया में। तुम्हारी अतृप्ति इसलिए है क्योंकि तुम्हें पता ही नहीं कि कहाँ से आ रही है तुम्हारी अतृप्ति। तुम्हें पता ही नहीं है कि भीतर जो अतृप्त बैठा है, वो कौन है, वह उठा कहाँ से है।

पहले उसको जानो। झूठी पहचान से शुरुआत करोगे तो झूठा जीवन ही जीते रहोगे। झूठी पहचान से शुरुआत करोगे तो सौ और झूठी पहचानें ओढ़ने को विवश हो जाओगे। झूठी पहचान से शुरुआत मत करो। झूठी पहचान की जाँच-पड़ताल करो, परीक्षण करो। यह ना कहो कि 'मैं तो वो हूँ ही जो मुझे लगता है कि मैं हूँ, अब आगे मुझे कुछ काम करने दो।' नहीं! काम-वाम बाद में करना। पहले पूछो 'जो मुझे लगता है वो सही भी है क्या?'

आध्यात्मिक आदमी और सामान्य संसारी में यही अंतर होता है। सामान्य संसारी अहंकारी होता है। उसका अहंकार कहता है, 'मुझे जो प्रतीत हो रहा है, मुझे जो अनुभव

हो रहा है, मेरी जो भावना है वो तो सत्य ही है। अब मैं अपनी भावना के अनुसार, अपने अनुभव के अनुसार काम करूँगा।'

आध्यात्मिक आदमी कहता है, 'काम बाद में, पहले ज़रा देख लें कि हमें जो प्रतीत होता है, हमें जैसा लग रहा है, सच्चाई वैसी है भी क्या? मेरे भीतर कोई विचार आ रहा है मैं देखूँ तो वो विचार कहाँ से आ गया। बाद में उस विचार पर अमल कर लूँगा।'

तो कुछ भी बन जाने से पहले कुछ विचार करिए। और जब भी जीवन पर कोई पहचान बहुत हावी होने लगे तो अपने आप को स्मरण कराइए, 'तत् त्वम असि'।

प्रज्ञानं ब्रह्म

~ ऐतरेय उपनिषद्, तृतीय अध्याय, प्रथम खंड, श्लोक क्रमांक २

आचार्य प्रशांत: आज का महावाक्य है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म', ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद् से।

प्रज्ञान ही ब्रह्म है। अच्छा! प्रज्ञान क्या होता है? ज्ञान से कैसे भिन्न है? इंद्रियों का जब संपर्क होता है इंद्रियों के ही विषयों से, तब ज्ञान उदित होता है। ज्ञान के लिए, साधारण ज्ञान के लिए, ज्ञानेंद्रियाँ चाहिए, ज्ञानेंद्रियों का विषय चाहिए, और मन चाहिए। एक अंतःकरण जिसमें मन हो, स्मृति हो, बुद्धि हो, तो फिर ज्ञान का निर्माण होता है, या ज्ञान का अनुभव होता है। इन तीनों में से कोई भी एक यदि नहीं है तो ज्ञान नहीं हो सकता।

इन्द्रियाँ चाहिए, मन चाहिए, और एक विषय चाहिए। इन्द्रियाँ उस विषय की सूचना लाकर के देती हैं, और मन उस विषय पर प्रक्रिया करता है बुद्धि और स्मृति के माध्यम से। तो फिर ज्ञान खड़ा होता है। अच्छी बात है। इसमें समस्या बस ये है कि ज्ञान का संबंध हमेशा किसी बाहरी विषय से होता है, और जो बाहरी विषय होता है वो हमेशा जो भीतरी विषयेता, विषयी है, वो उसकी छाया होता है।

अब छाया के साथ आप जब बहुत उत्सुकता जोड़ लेते हैं - जैसा कि ज्ञान की प्रक्रिया में होती है - तो उसके फिर दो-तीन नुकसान होते हैं। एक तो ये कि छाया को देखकर के जो छायाकार है, जिसकी छाया है, उसका बहुत कम पता लगता है। दूसरी बात, छाया को देखने से ये भ्रम हो जाता है कि छाया ही सच्ची है, और छाया अपने आप में संपूर्ण और स्वतंत्र है। यह याद ही नहीं आता, ये कौंधता ही नहीं कि ये छाया तो किसी और का प्रतीक मात्र है। छाया तो किसी अन्य महत्वपूर्ण विषय की ओर संकेत मात्र है।

वो याद नहीं रहता तो जब आप ज्ञान की प्रक्रिया में होते हो और संसार का कोई विषय लेते हो, तो उससे उस विषय के बारे में जो पता लगता है सो लगता है, इतना निश्चित है कि ये पता लगना बंद हो जाता है कि वो जो विषय है बाहर, वो भीतर की ही किसी वस्तु की छाया है। तो इसलिए जो साधारण, भौतिक ज्ञान होता है, इंद्रियगत, मन-गत, बुद्धि-गत, स्मृति-गत, देह-गत, वास्तव में वो व्यावहारिक लाभ का और आध्यात्मिक भ्रम का कारण बनता है। व्यावहारिक रूप से तो लाभ हो जाएगा।

आपके सामने एक जानवर हो, हिंसक-सा जानवर हो। आपकी इंद्रियाँ आपको बताएँगी कि सामने जानवर है। आँखें बोलेंगी जानवर दिख रहा है, कान बोलेंगे जानवर

आवाज़ कर रहा है। मन के पास ये सूचना जाएगी। मन स्मृति से पूछेगा, ‘कुछ पता है अतीत से?’

स्मृति बताएगी, “हाँ, पता है अतीत से। चार महीने पहले भी दिखा था और इसने चार महीने पहले भी बड़ा परेशान करा था।”

मन बुद्धि से पूछेगा, “स्मृति ने अभी-अभी कुछ सूचना दी है। अब क्या करना है?”

बुद्धि बोलेगी, "भाग जाओ!" तो जो कर्मेन्द्रियाँ हैं वो भागना शुरू कर देंगी।

ये पूरी प्रक्रिया होती है, इसमें व्यावहारिक लाभ हो जाता है। जो देह है वो जानवर से बच जाएगी। लेकिन इसमें जो नुकसान होता है वो ये है कि अपने भीतर की ओर देखने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। कोई संदर्भ ही ऐसा नहीं उठता कि पता चले कि देखने वाला कौन है उस जानवर को। इंद्रियाँ काम करती हैं जीव की रक्षा के लिए, माने देह की रक्षा के लिए। देह की रक्षा वगैरह हो जाती है। अहंकार का भी जो उसमें स्वार्थ है, वो सिद्ध हो जाता है, लेकिन आत्मज्ञान बिलकुल नहीं होता। बल्कि आप आत्मज्ञान से और दूर हो जाते हो।

तो साधारण जो ज्ञान है वो आत्मज्ञान के बल्कि विरुद्ध जाता है, विपरीत जाता है। साधारण ज्ञान में आपको जो दिख रहा है, उसमें बड़ी रुचि हो जाती है। वो रुचि आप को व्यावहारिक लाभ दिला देती है, लेकिन आध्यात्मिक तल पर आपको अपनी सच्चाई से और दूर कर देती है, क्योंकि आपके लिए वो बड़ी महत्वपूर्ण बात हो जाती है जो अभी दिख रहा है। वो इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि देखने वाले को जानने की आपमें कोई जिज्ञासा ही शेष नहीं रह जाती। सारी ऊर्जा बस जो दिख रहा है, विषय, उस पर जाकर के केंद्रित हो जाती है। कौन उस विषय को देख रहा है, इसका भीतर कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

अब आते हैं प्रज्ञान पर। प्रज्ञान क्या है? इंद्रियाँ अपना काम करती रहेंगी। सामने अगर वो पशु है तो इंद्रियाँ तो उसको देखेंगी। इंद्रियाँ सूचना मन तक भी पहुँचाएँगी, मन स्मृति से भी पूछेगा, ये सब चलता रहता है। तो ज्ञान तो एक प्राकृतिक गतिविधि है। प्रज्ञान में दैवीयता है, प्रज्ञान में प्रकृति के थोड़ा आगे जाना पड़ता है। प्रज्ञान में कुछ ऐसा करना पड़ता है जो करने के लिए प्रकृति ने आप को तैयार नहीं करा है।

प्रज्ञान में अनुशासन से, जिज्ञासा से ये पूछना पड़ता है कि 'पशु तो ठीक है लेकिन उस पशु का पशु को देखने वाले पर प्रभाव क्या पड़ रहा है?; ठीक जिस क्षण में आँखें उस पशु को देख रही हैं, उसी क्षण में कोई मन को देख रहा है, ये प्रज्ञान है। सामने दिख रहा है, उसको आँखों ने देखा; और भीतर जो है, जो उसको देख रहा है माने मन, मन को

किसी और ने देखा। किसने देखा? उसी ने देखा जिसको हम कल तत् कह रहे थे। वही तत् है।

आँखों ने देखा पशु को, आँखों के माध्यम से फिर मन ने पशु को देखा, और बुद्धि और स्मृति की सहायता से पशु को जाना। आँखें सिर्फ़ दिखाती हैं, बुद्धि और स्मृति की सहायता से मन उस को जानता है। ठीक है? ज्ञान वही है न। बिना स्मृति के तो कोई ज्ञान होता नहीं। मन ने उसको जाना, आँखों ने उसको देखा और कोई बैठा है जिसने इस पूरी प्रक्रिया को ही देख लिया – 'ये क्या चल रहा है?' ये प्रज्ञान है।

प्रज्ञान में ज्ञान का अभाव नहीं है, प्रज्ञान में ज्ञान का अतिक्रमण है। ज्ञान तो है ही उसमें, बस ज्ञान एकतरफ़ा होता है। ज्ञान आधा होता है। ज्ञान बस बाहर देखता है। प्रज्ञान देख लेता है कि भीतर कौन है जो बाहर देख रहा है। ज्ञान बस बाहर के प्रति चैतन्य होता है। प्रज्ञान भीतर के प्रति भी तत्क्षण सचेत हो जाता है।

पशु क्या कर रहा है, यह जानना ज्ञान है। और पशु सामने है तो मन क्या कर रहा है, ये जानना प्रज्ञान है। सामने पशु क्या कर रहा है, ये जानना ज्ञान हो गया, साधारण। और सामने जब पशु है, तो आपका मन क्या कर रहा है, ये जानना प्रज्ञान है।

महावाक्य कह रहा है, "प्रज्ञान ही ब्रह्म है।" जो सिर्फ़ बाहर को देखे वो बुद्धि। जो बाहर-भीतर दोनों एक साथ देख ले, वो बोध। बोध ही ब्रह्म है। भीतर जो प्रभावित हो रहा है, उसको वही देख सकता है जो अप्रभावित हो, उसी को साक्षी भी कहते हैं। तो साक्षी ही ब्रह्म है। बुद्धि को केंद्र बनाकर अगर कहें, तो बोध ही ब्रह्म है। साधारण बुद्धि बाहर देखती है। बोध बाहर-भीतर दोनों को देख लेता है। बोध ही ब्रह्म है।

जब मन देखता है पशु को, तो देखता ही नहीं है, उससे प्रभावित भी हो जाता है। आप जिस भी वस्तु को देखते हैं, उसको आप सिर्फ़ देखते ही नहीं हैं, उसको आप देखते ही उससे प्रभावित भी हो जाते हैं। अप्रभावित रहकर के देख लेना दोनों को, पशु को और मन को, ये साक्षित्व है। तो बोध ही ब्रह्म है। साक्षित्व ही ब्रह्म है। अंतर्दृष्टि ही ब्रह्म है।

कहीं किसी मान्यता के लिए, किसी विश्वास के लिए, किसी उटपटांग जटिलता के लिए ऋषियों ने कोई सम्भावना छोड़ी ही नहीं। दो शब्दों में सब समेट लिया – 'प्रज्ञानं ब्रह्म!' और कुछ नहीं है, ब्रह्म। बहुत तरह की बातें मत करने लग जाना। बहुत तरह की जटिलताएँ, किस्से-कहानियाँ मत खड़े कर लेना। जब देख रहे हो कहीं, तो देखने वाले को भी देखो, यही ब्रह्मत्व है। यही ब्राह्मी स्थिति है जिसका उल्लेख कृष्ण करते हैं। और कुछ भी नहीं, यही स्थितप्रज्ञता है, स्थित प्रज्ञता। प्रज्ञ, प्रज्ञानं ब्रह्म।

ज्ञान बढ़िया बात है। ज्ञान से ज़रा सा और आगे जाओ, ज्ञानी को भी तो समझो। प्रज्ञान का लाभ ये होता है कि ज्ञान तो होता है पर आप ज्ञानी नहीं बनने पाते। नहीं तो ज्ञान का नुकसान ये है कि ज्ञान आया नहीं कि आप ज्ञानी बन जाते हो।

मन ज्ञानी है, साक्षी प्रज्ञानी है। ज्ञानी ज्ञेय विषय से कलंकित हो जाता है, रंजित हो जाता है। ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की त्रिपुटी बन जाती है। तीनों एक दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं। प्रज्ञानी ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय ये जो पूरा त्रैत है, इसका दृष्टा, इसका साक्षी रहता है। कहता है 'ठीक है, ज्ञान है, हम ज्ञान से अलग हैं।' अब ज्ञान तो रहेगा, लेकिन ज्ञान का जो दुष्प्रभाव होता है, जो साइड इफ़ेक्ट होता है वो नहीं रहेगा। अन्यथा ज्ञान अपने साथ बड़े दुष्प्रभाव लेकर के आता है। प्रज्ञानं ब्रह्म।

दुनिया को जानते चलो, दुनिया को जानने वाले को भी जानते चलो। कोई भी अनुभव जब हो रहा हो, प्रत्येक अनुभव आपके ज्ञान के भंडार में थोड़ा कुछ जोड़कर ही जाता है। जब भी कोई अनुभव हो रहा हो, देखो कि वो अनुभव तुम पर क्या प्रभाव डाल रहा है। देखो कि तुम क्या बन गए अनुभोक्ता के तौर पर। विषय ने तुम को बदल दिया और तुम्हारी बदली हुई स्थिति ने विषय को बदल दिया। अब बताओ, सच्चाई बची कहाँ?

तुम्हारे सामने एक विषय आता है। उसके संपर्क मात्र से, उसके अनुभव मात्र से तुम बदल जाते हो। और जैसे ही तुम बदले तुम्हारे लिए वो विषय भी बदल गया। अब बताओ, यहाँ कितनी सच्चाई है?

एक जादू है, एक नशा है, मद। और फिर जब वो मद उतरता है और उसी विषय की ओर पुनः देखते हो तो कहते हो कि 'ये विषय तो वैसा है ही नहीं जैसा मुझे प्रतीत हुआ था। इस विषय में तो कुछ भी जादुई नहीं है। पर एक समय था जब ये विषय मेरे सर चढ़कर बोल रहा था।' किसी भी तरह से, मोह में भी हो सकता है। घृणा में भी हो सकता है। आकर्षण-विकर्षण, किसी भी तरह से।

फिर बड़ी हैरत होती है। 'मैं इस वस्तु को लेकर के इतना गंभीर, इतना आसक्त कैसे हो गया था?' क्योंकि उस वस्तु ने तुम्हें बदल दिया था। और जब तुम बदल गए तो तुम्हारे लिए वो वस्तु बदल गई। ऐसी सी बात है जैसे चुंबक के निकट लोहा आ जाए। लोहा भी क्या बन जाता है? लोहा भी चुंबक बन जाता है। विषय ने विषयेता को ही बदल दिया। तुम वो हो ही नहीं जो तुम्हारा स्वभाव है। विषय ने तुम्हारे स्वभाव को बदल दिया।

और जब तुम बदल गए तो वो विषय तुम्हारे लिए और महत्वपूर्ण हो गया। प्रत्येक विषय तुमको इसी प्रकार बदलता है। कोई विषय ऐसा नहीं होता, तुम जिसके निकट

जाओ और विषय की प्रकृति ये हो कि निकटता के कारण वो विषय तुम्हारे लिए अमहत्वपूर्ण हो जाए। कोई विषय ऐसा नहीं होता।

विषय सारे ऐसे होते हैं जो तुमको कुछ इस तरह से बदलेंगे कि तुम उस विषय को और मूल्यवान मानने लगो। यही माया है। हर विषय तुम पर अपने अनुकूल एक प्रभाव डालता है। उसमें आसक्ति ही नहीं शामिल है, उसमें अनासक्ति भी शामिल है। आकर्षण ही नहीं, विकर्षण भी शामिल है। लेकिन कोई विषय तुम्हारे सामने इसलिए नहीं आता है कि वो तुम्हारी चेतना से लुप्त हो जाए। हर विषय की अपनी प्रकृति होती है। वो प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है।

लेकिन एक साझी बात प्रत्येक विषय में होती है संसार के। वो तुम्हारी चेतना में एक जगह बना लेना चाहता है किसी भी तरीके से। अच्छा बनकर, बुरा बनकर, ऊँचा बनकर, नीचा बनकर, प्राप्य बनकर, त्याज्य बनकर वो तुम्हारी चेतना में जगह बना लेना चाहता है। जैसे उसने तुम्हारी चेतना में जगह बनाई, वो तुम्हारे लिए और महत्वपूर्ण हो गया।

यहाँ तक भी कहानी होती तो ख़ैरियत थी। अब अगला विषय तैयार खड़ा है। वो भी क्या चाहता है? तुम्हारी चेतना में जगह बनाना। और तुम्हारी चेतना में असीमित स्थान है नहीं। तुम ही सीमित हो। तो स्थान के लिए अब ये दोनों विषय क्या करेंगे? भीतर गृह-युद्ध, कलह, मचेगी लड़ाई। और लड़ाई तुम्हारे ही एक हिस्से और तुम्हारे ही दूसरे हिस्से के बीच में हो रही होगी और ये दोनों ही हिस्से नकली हैं क्योंकि ये दोनों ही हिस्से विषयों के प्रभाव से संक्रमित हैं।

पहले हिस्से पर एक विषय का प्रभाव है, दूसरे हिस्से पर दूसरे विषय का प्रभाव है। दोनों ही तुम्हारे ये भीतरी जो हिस्से हैं, ये स्वभाव से विलग हो चुके हैं, लेकिन दोनों ही अपनेआप को सत्य मान रहे हैं, और दोनों फिर आपस में टकराते हैं। दोनों जब टकराते हैं तो जीवन नर्क हो जाता है।

प्रज्ञान का अर्थ है – ‘ये सब कुछ जब हो रहा है, मैं जान रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ।’ जैसी ये आँखें हैं जो बाहर के सब विषयों को देखती हैं, वैसे ही भीतरी आँखें हैं जो भीतर की सारी कार्यवाही को देखती हैं। जिसने भीतर की सारी कार्यवाही को देख लिया उसको फिर बहुत और उपाय नहीं करने पड़ते। 'प्रज्ञानं ब्रह्म'। हो गई ब्राह्मी स्थिति!

अयं आत्मा ब्रह्म

~ माण्डूक्य उपनिषद्, अध्याय १, श्लोक २

आचार्य प्रशांत: अगला ब्रह्म वाक्य है, ‘अयं आत्मा ब्रह्म’। माण्डूक्योपनिषद् से है।

ब्रह्म से क्या आशय है? सीधे-सीधे समझें तो जगत का जो यथार्थ है, जगत के केंद्र में जो बैठा है, जगत में जो छुपा हुआ है, कूटस्थ है, उसको ब्रह्म कहा गया है। 'अयं आत्मा ब्रह्म' माने आत्मा ही ब्रह्म है।

क्या समझाना चाह रहे हैं ऋषि? इंद्रियाँ जगत की ओर देखती हैं और मनुष्य पूरे जीवन गतिशील रहता है, आतुर रहता है, चिंतित रहता है, और ठोकरें-परेशानियाँ भी सहता है ताकि वो दुनिया में जो ऊँचे-से-ऊँचा है, जो वास्तविक है उसको प्राप्त कर सके। वो जो जगत में उच्चतम है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। वो जो जगत में वास्तविक है, उसको ब्रह्म कहते हैं। जगत में जो आप पाना चाहते हो, जिसके बिना आपकी कामना शांत ही नहीं होती, उसको ब्रह्म कहते हैं।

तो ऋषि कह रहे हैं 'वो जो तुम पाना चाहते हो वो बाहर नहीं भीतर है। यह आत्मा ही ब्रह्म है।' जब तक तुम अहंकार बने बैठे हो तब तक बाहर पाने लायक क्या है तुम्हें समझ में नहीं आएगा, तुम भ्रमित रहोगे। और तमाम तरह के जो विषय हैं दुनिया में तुम उनकी ओर दौड़ते रहोगे।

तो भीतरी अहंकार का सीधा संबंध बाहरी भ्रम से बनता है। भीतर जो भी अहंकार से संचालित है, बाहर वो तमाम तरह के विषयों की ओर दौड़ेगा। ये एक समीकरण हुआ। और भीतर जो आत्मस्थ हो गया वो बाहर ब्रह्म को पा लेगा, जैसे कि जो बाहरी ब्रह्म है वो भीतरी आत्मा से भिन्न है ही नहीं, जैसे कि आपको जो बाहर पाना है वो वास्तव में भीतर की ही वस्तु है।

अध्यात्म का जो प्रतिपाद्य विषय है वो एक तरीके से है ही यही - स्वयं में, संसार में, संबंध क्या रखना है। पुरुष और प्रकृति का रिश्ता क्या होना चाहिए। और ये बहुत महत्वपूर्ण उक्ति है उपनिषदों से इसलिए, 'अयं आत्मा ब्रह्म'। क्योंकि यह बताती है कि बाहर की दिशा दौड़ते रहने भर से नहीं होगा, पहले भीतरी स्पष्टता होनी चाहिए। और जब भीतरी स्पष्टता आ गई तो बाहर का यथार्थ अपने आप ही प्रकट हो जाएगा।

मनुष्य के लिए तो आत्मा और ब्रह्म में पहले आत्मा ही आती है न। महावाक्य में भी, 'अयं आत्मा ब्रह्म'। आत्मा ही ब्रह्म है क्योंकि जगत विषय है, विषयी हम हैं। पहले

हम आते हैं; हम हैं तो जगत है। अहंकार पूरी सृष्टि का दृष्टा और भोक्ता है। पहले अहंकार आता है, उसको ठीक कर लिया तो बाहर सब अपनेआप ठीक हो जाता है।

जो भीतरी है, अगर उसका शोधन कर लिया तो बाहर सब अपनेआप ठीक हो जाता है। माने जिसको हम ब्राह्मी स्थिति भी बोलते हैं वो वास्तव में बस आत्मस्थ होने का दूसरा नाम है। जो अहंकार को जितना समेटता जाएगा, जितना उसको पतला करता जाएगा, घटाता जाएगा, उसको हम कह सकते हैं कि उतना ब्रह्मलीन होता जाएगा।

अयं आत्मा ब्रह्म। भीतर से आत्मस्थ, तो जगत फिर लुभाने वाला, भ्रमित करने वाला, दुःख देने वाला मायावी प्रपंच नहीं रह जाता। भीतर से आत्मस्थ, तो जगत ही ब्रह्म है। अहंकार यदि आत्मा है, तो जगत ब्रह्म है। अहंकार के सामने होता है जगत। और अहंकार और जगत में हमेशा एक दूरी होती है। इसी दूरी का नाम है मनुष्य का दुःख।

'मैं अहंकार हूँ, मेरे सामने जगत है और एक दूरी बनी हुई है। जो मुझे चाहिए मिल नहीं रहा। पूरा मैं उसको कभी पकड़ नहीं पा रहा।' इसी दूरी का नाम दुःख है। और भीतर से जब आत्मा हो गए तो जगत ब्रह्म है और अब विशेष बात यह है की आत्मा और ब्रह्म एक हैं। अहंकार और जगत में हमेशा दूरी रहती है लेकिन आत्मा और ब्रह्म एक हो जाते हैं। उस दूरी का नाम, हमने कहा, दुःख था, तो आत्मा और ब्रह्म जब एक हो गए तो दुःख मिट गया।

स्वयं और संसार के सही संबंध में ही दुःख से निवृत्ति है। और वो सही संबंध जगत के परिवर्तन से नहीं शुरू होता, आत्मचिंतन से शुरू होता है, आत्मज्ञान पर ख़त्म होता है। आप भीतर से ठीक हो जाइए, दुनिया से आपको ठोकरें मिलनी बंद हो जाएँगी।

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म

ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी सत्ता नहीं है।

~ छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, द्वितीय खण्ड, श्लोक १

आचार्य प्रशांत : 'एकं एव अद्वितीयं ब्रह्म' छांदोग्य उपनिषद् से। ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, उसके पीछे, उसके साथ, ना उसके जैसा, या उससे भिन्न दूसरा कोई नहीं। आशय क्या है? बात क्या है?

समझने के लिए ये जानना पड़ेगा कि उपनिषद् हैं ही क्यों, और उपनिषद् किससे कहे गए हैं। उपनिषद् हैं जलते हुए मन को शीतल करने के लिए। और उपनिषद् कहे गए हैं एक भ्रमित मन से जो अपना भ्रम हटाना चाहता है। शिष्य आया है ऋषि के पास और वो समझना चाहता है जीवन के बारे में, स्वयं के बारे में क्योंकि उसे भ्रमित रहना स्वीकार नहीं। इस पृष्ठभूमि में खड़े होते हैं उपनिषद्।

तो मन की साधारण अवस्था क्या होती है? मन की साधारण अवस्था होती है विविधता की। वहाँ चीज़ें बँटी हुई रहती हैं। मन की साधारण अवस्था क्या होती है? मन की साधारण अवस्था होती है विघटन की, विविधताओं में खोए रहने की, विविधताओं के समक्ष चमत्कृत अनुभव करने की। ये दिख गया, ये दिख गया, काला दिख गया, फिर सफ़ेद दिख, फिर पीला, नारंगी दिख गया। और हर विविधता अपने-आप में कुछ आकर्षण लिए होती है।

कुछ विविधताएँ विकर्षक भी हो सकती हैं। लेकिन ये सब विविधताएँ मन के लिए बड़ा अर्थ रखती हैं। मन उन्हें बड़ी गंभीरता से लेता है। ये ही जीवन बन जाती हैं। आज ये चाहिए, कल वो चाहिए। जो चाहिए वो इसलिए चाहिए क्योंकि वो दूसरी वस्तुओं से भिन्न है। तो ये बँटा हुआ जीवन जीता है आम मन, और ये जो बँटा हुआ जीवन है, यही दुःख का मूल है।

जिसमें आपके मन पर कभी एक विषय हावी है, तो कभी दूसरा विषय हावी है। कभी आप एक दिशा भागना चाहते हो, कभी दूसरी दिशा। कभी एक विचार आपको सही लगता है, तो कभी कोई दूसरा भाव आपको पकड़ लेता है। यही जो विविधता है, और इस विविधता को सत्य मानने का जो हमारा हठ है, अनुभवों को ही सत्य मान लेने की जो हमारी भूल है, यही हमारे लिए दुःख का मूल है।

अब आप समझिए कि 'अद्वितीय' और 'एक' शब्द इतने उपयोगी क्यों हैं, इतने विशेष क्यों हैं। क्योंकि मन की दुनिया में कुछ अद्वितीय होता नहीं। मन की दुनिया में एकत्व जैसी कोई चीज़ होती नहीं। और मन इसीलिए फिर तमाम तरीके से दुःख झेलता है। तो ऋषि यहाँ पर समझा रहे हैं कि इन सब विविधताओं के पार जो है, वो ही असली है। तुम्हें वहाँ पहुँचना है, वही तुम हो।

विविधताएँ तुम ढूँढते हो क्योंकि तुम्हें अपना ज्ञान नहीं। वो जो एक वस्तु तुम हो, एक वस्तु, उस एक वस्तु का तुम्हें ज्ञान हो जाए तो विविधताएँ फिर तुम्हारे लिए बहुत अर्थपूर्ण बचेंगी नहीं। अब तुम विविधताओं में क्रीड़ा कर पाओगे। अब तुम विविधताओं को हल्के हाथ से ले पाओगे। अब तुम्हारे लिए विविधता जी का जंजाल नहीं बन जाएगी।

इसी को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं। यही उपनिषदों की सीख है और इसीलिए ये महावाक्य कहलाता है – एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।

क्या ऐसे हो सकते हो तुम कि एक में तुम्हारी निष्ठा हो जाए और बाकी सब तुम्हारे लिए बस क्रीड़ा जैसा बचे? रंगमंच पर घटती घटनाओं जैसा हो जाए जिसके तुम दृष्टा भर हो? अगर ऐसा हो जाए तो ऋषि कह रहे हैं, "सुनो शिष्य, तुम अपने सब दुखों से पार चले जाओगे, अपने सब बंधनों से मुक्त हो जाओगे।"

उस एक को पकड़ो जिसके आगे नहीं कोई, जिसके पीछे नहीं कोई, जिसके जैसा नहीं कोई। और अगर तुम पाते हो कि तुमने जिन विषयों को, वस्तुओं को, विचारों को पकड़ रखा है जीवन में, उनमें अद्वितीयता नहीं है, तो फिर ज़रा ग़ौर से पुनर्विचार करो कि क्या वो विषय वास्तव में पकड़ने लायक हैं? इतनी गंभीरता से लेने लायक हैं? एकनिष्ठ हो जाओ। एकाग्र हो जाओ। पहचानो कि क्या-क्या ठीक नहीं है, उससे हटते जाओ। और जो ठीक है, उस पर टिकते जाओ।

बँटा-बँटा विभाजित जीवन मत जियो। सौ टुकड़ों में बँट जाने से तुम्हारा क्षोभ नहीं बँट जाएगा। आईना अगर दूषित है, धूल जमी है उस पर, तो उसके सौ टुकड़े भी कर लोगे तो उन सबसे भी प्रतिबिंब धूल-धूसरित ही आएगा। एक, एक, एक! कोई एक है आपके जीवन में जिसके समक्ष बाकी सब महत्वहीन, गौण, त्याज्य हो जाता हो? और अगर वो एक नहीं है तो जीवन खंडित रहेगा।

तन पर थोड़ी चोट लगी हो तो पीड़ा अनुभव होती है न। और मन अगर खंडित ही हो, उसके टुकड़े ही हों, तो कैसा रहेगा? ये महावाक्य लगातार आपको ये याद दिलाने के लिए है। आपसे ये प्रश्न पूछने के लिए है लगातार, "कितने टुकड़ों में बँटे हो?"

यहाँ तो कहा जा रहा है अद्वितीय है ब्रह्म। और हमारे जीवन में दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा, सौंवा सब रहते हैं। और हमें कभी पता नहीं होता इसमें से कहाँ सार है, कहाँ असार। क्या रखने लायक है, क्या रखने लायक नहीं है। कभी कुछ ज़्यादा कीमती लगने लगता है। कभी कुछ दूसरा बहुत महत्वपूर्ण लगने लगता है। कुछ इस तरह से लुढ़कते-पुढ़कते व्यर्थ बीत जाता है जीवन।

जब सौ दिशाओं से माया पकड़ रही हो, तब अपने-आप से पूछना है, 'कहाँ गया, एकं कहाँ गया? एक कहाँ गया? एक जैसा कुछ है?' और जैसे ही ये महावाक्य और इससे उठते प्रश्न आपको याद आएँगे, आप पाएँगे की विविधताओं के पाशों से अचानक थोड़े आप मुक्त हो गए; सौ चीज़ों ने आपके ऊपर जो बंधन कस रखे हैं, अचानक वो थोड़े शिथिल हो गए।

हर महावाक्य दवा की तरह है, बीमार मन के लिए औषधि। अति संक्षिप्त, किंतु अति उपयोगी। जिसने इन सूत्रों को मन में बसा लिया, ये सूत्र उसका मन साफ़ कर देंगे। इस भूल से बचिएगा! ये मत सोचिएगा कि ये महावाक्य ब्रह्म के एकत्व के बारे में है। वो बात सही है पर बाद की है। पहले ये महावाक्य हमारे जीवन में व्याप्त मायावी विविधता के बारे में है।

उपनिषदों की विधि नकार की है। तो जब वो कहें, 'एक', तो उसका अर्थ है, 'नहीं अनेक'। एक को कैसे पढ़ना है? 'नहीं अनेक।' हमारे लिए 'नहीं अनेक' ही ज़्यादा उपयोगी है क्योंकि हमारे जीवन में अनेकता भरी हुई है। एकता का तो हमें वैसे ही कुछ पता नहीं। ये जो अनेकता हमारे जीवन पर छाई रहती है, इसके विरोध में, इसके नकार में है ये महावाक्य।

ब्रह्म के बारे में आपको नहीं बहुत कुछ बताया जा रहा कि ब्रह्म ऐसा है, ब्रह्म एक है, अद्वितीय है। यह मत सोचिएगा कि यहाँ पर ब्रह्म का वर्णन किया जा रहा है। आपके जीवन में समस्या ये नहीं है कि आपको ब्रह्मज्ञान नहीं है। आपके जीवन में समस्या ये है कि आपको मायाज्ञान बहुत ज़्यादा है। माया हर तरीके से आपके दिमाग में घुसी हुई है।

तो ये सूत्र ब्रह्म के विषय में आपको कोई सूचना इत्यादि देने के लिए नहीं है। ये सूत्र आपको आपके जीवन में जो सौ बंधन हैं उनको नकारने की प्रेरणा देने के लिए है, बस।

सोऽहं

आचार्य प्रशांत: 'सोऽहं', ईशावास्योपनिषद से। 'वह मैं हूँ', या, 'मैं वह हूँ'। गुरु ने शिष्य को संबोधित करके सिखाया, ‘तुम वह हो – तत् त्वम् असि’, और बात बन गई। अब शिष्य बोल रहा है, अपनी ही चेतना से, अपने ही मुँह से, अपना ही अब स्वीकार है उसको। गुरु की सीख नहीं है, अपनी समझ है! सोऽहं! वह मैं हूँ – सोऽहं!

क्या है सोऽहं? सोऽहं एक हुँकार है। मैं जीव हूँ? ना। मैं पुरुष हूँ? ना। मैं नारी हूँ? ना। वृद्ध हूँ, युवा हूँ, बालक हूँ? ना। धनी हूँ, निर्धन हूँ? ना। किसी जाति का हूँ? ना। उच्च कुल, निम्न कुल? कुछ नहीं। ना, ना!

मैं जो हूँ उसको कोई नाम नहीं दे सकते। तुम जो कुछ भी कहोगे कि मैं हूँ, मैं उसके विरुद्ध गर्जना करता हूँ।

तो क्या हूँ मैं? जो मैं हूँ, उसको कोई नाम नहीं दे सकते तो मैं बस ये कह रहा हूँ, 'सोऽहं! मैं वह हूँ!' मैं वह हूँ। मैं क्या हूँ? मैं कुछ कह नहीं रहा। मैं कुछ बताऊँगा नहीं। बताया जा नहीं सकता। बताने की चेष्टा करी तो उसी पुराने जाल में फँस जाएँगे, मायाजाल, शब्दजाल। सोऽहं! बस इशारा किया जा सकता है। इंगित किया गया है। उँगली दिखाई गई है, संकेत में।

तुम वह हो। मैं वह हूँ। सोऽहं! और इसके अतिरिक्त अगर तुमने मुझे कोई पहचान देने का प्रयास करा, तो झूठ भी होगा, अन्याय भी होगा। ये दुष्ट चेष्टा मत करना। मत कहना 'अहम् देहास्मि'। नाहं, नहीं हूँ मैं। देह नहीं हूँ मैं। मन नहीं हूँ मैं। जैसे आदिशंकर ने, आचार्य शंकर ने निर्वाण षट्कम में कहा, "ना ये हूँ, ना वो हूँ। ना पँचभूत हूँ, ना प्राण हूँ, ना लिंग हूँ, ना जाती हूँ, ना काल हूँ, ना स्थान हूँ। मन में, समय और आकाश की सीमाओं में जो कुछ भी आ सकता है कुछ नहीं हूँ मैं।”

'नाहं' का ही दूसरा नाम 'सोऽहं' है। और क्यों आवश्यकता पड़ती है 'नाहं' कहने की, 'सोऽहं' कहने की? क्योंकि हम कहते रहते हैं 'देहं'। देहं! ‘अहम् देह अस्मि। मैं देह हूँ। मैं देह हूँ।’ 'देहं', 'देहं' करते रहते हैं। तो 'देहं' को नकारने के लिए कहते हैं 'नाहं'। लेकिन ना भर से मन का पेट नहीं भरता। वो पूछना शुरू कर देता है, "अच्छा देह नहीं हो तो क्या हो?"

अब ये प्रश्न खतरनाक है क्योंकि देह के विकल्प के रूप में अगर कुछ और कह दिया अपनेआप को, तो वो एक और देह बन जानी है। वो एक और सहारा बन जाना है जिस

पर टिक कर माया खड़ी हो जाएगी। तो शुद्धतम तो है 'नाहं', लेकिन ज़्यादा उपयोगी है 'सोऽहं'।

ज़्यादा मीठा भी है 'सोऽहं'। फिर कोई तो है जो बोल रहा है कि ‘मैं नहीं हूँ।’ उसको ये भी नहीं कह सकते कि वो शून्य है क्योंकि बोलने भर के लिए तो वो मौजूद है ही न। और ये भी नहीं कह सकते कि वो कुछ है। ना ये कह सकते हो कि कुछ नहीं है, ना ये कह सकते हो कि कुछ है। तो इसलिए बीच का एक ज़्यादा उपयोगी, ज़्यादा स्वीकार्य मार्ग निकाला गया, 'सोऽहं'।

‘मैं नहीं कह रहा मैं देह हूँ, मैं नहीं कह रहा मैं संसार हूँ, मैं नहीं कह रहा कि मैं मन हूँ, चित्त हूँ, भाव हूँ, विचार हूँ, कुछ नहीं। और मैं यह भी नहीं कह रहा कि मैं कुछ नहीं हूँ, क्योंकि कह दिया कुछ नहीं हूँ तो प्रश्न उठेगा कि ये सारी बातचीत किससे, किसको, ये दुःख किसको, मुक्ति किसकी? तो मैं कह रहा हूँ सोऽहं, सोऽहं, सोऽहं।’

कुछ कह भी दिया और नहीं भी कहा। जो कुछ सुनना चाहता था उसके कानों की प्यास भी मिटा दी और कहा कुछ ऐसे कि कहने में कोई दूषण भी नहीं होने पाया। साँप भी मर गया, लाठी भी नहीं टूटी। काम भी हो गया। क्या काम था? देह भाव से मुक्ति। जीव भाव से मुक्ति। वो काम भी हो गया और कोई वैकल्पिक पहचान भी नहीं उठाई।

और ये भी नहीं कह दिया कि, ‘ना ये हूँ, ना वो हूँ, और बिलकुल ही कुछ नहीं हूँ।’ वो बात शुद्ध होती लेकिन बहुत रुचती नहीं। और तड़पते मन को मुक्ति तो चाहिए-ही-चाहिए। उसे मुक्ति कुछ इस तरह से चाहिए कि बहुत अरुचिपूर्ण ना हो। यदि बहुत अरुचिपूर्ण कोई बात कह दी तो मन अरुचि से ही इतना आहत हो जाएगा कि मुक्ति की तरफ़ बढ़ेगा ही नहीं। तो 'सोऽहं'।

जिज्ञासा शुरु होती है देह के बाद पूछने से, 'कोऽहं'। 'कौन हूँ?' आप जब पैदा होते हैं तो आप किस भाव के साथ पैदा होते हैं? देह। ‘मैं देह हूँ।’ फिर यदि सही संगति मिली और जीवन में आपने सही निर्णय लिए तो आप प्रश्न पूछेंगे ‘कौन हूँ मैं?’ पूछेंगे ‘कौन हूँ मैं?’ जिज्ञासा करेंगे, थोड़ी जाँच, तो पता चलेगा ये नहीं हूँ मैं, वो नहीं हूँ मैं तो कहेंगे, 'नाऽहं!' नाऽहं से फिर आगे बढ़कर आप कहते हैं 'सोऽहं'। देहं, कोऽहं, नाऽहं फिर सोऽहं। बस।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

~ छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय ३, चतुर्दश खंड, श्लोक १

आचार्य प्रशांत: 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', छांदोग्य उपनिषद् से। यह सब जो है, ब्रह्म है। और यह सब जो दिखता है, वो बड़े भेद लिए हुए दिखता है, विविधताएँ, विभिन्नताएँ, समताएँ, विषमताएँ। कोई भी वस्तु संसार में प्रतीत ही इसलिए होती है क्योंकि वो अन्य वस्तुओं से भिन्न होती है।

यहाँ पर जैसे पृथकता अनिवार्यता है। किसी भी वस्तु को, किसी भी विषय को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए दूसरी वस्तुओं से, विषयों से भिन्न होना ही पड़ेगा। सफ़ेद पर सफ़ेद दिखाई नहीं देगा। काले पर काला दिखाई नहीं देगा। काले को अगर बचे रहना है तो उसे सफ़ेद से भिन्न होना ही पड़ेगा। ये वस्तुओं के लिए अनिवार्यता है, या इंद्रियों की विवशता है।

इंद्रियों को तो अनुभव सोखने हैं। और कैसे करोगे विषयों का अनुभव अगर विषय भिन्न-भिन्न नहीं दिखाई दे रहे हैं? अगर एक समरसता है बाहर, तो फिर अनुभव के लिए स्थान क्या बचा? कैसे हो पाएगा अनुभव? और इंद्रियों का राजा, मन, अनुभव का प्यासा है। इंद्रियाँ तो उसी के द्वारा प्रेषित की जाती हैं, कि ‘जाओ, जाओ, जाओ और तमाम संसार से मेरे लिए अलग-अलग विषय खोज कर लाओ’।

तो ये मन की विवशता है कि उसको अलग-अलग तरीके से संसार की वस्तुओं को देखना है। मन प्यासा है, तो संसार में भेद है, क्योंकि मन प्यासा है तो उसे संसार से ही अपनी प्यास बुझानी है। संसार से प्यास बुझानी है तो उसे संसार में विषय पता चलने चाहिए, विषयों का अनुभव होना चाहिए। विषयों का अनुभव ही नहीं हुआ तो वो अपनी प्यास बुझाने का प्रबंध या प्रयास कैसे कर पाएगा? तो इसलिए दुनिया को खंडित देखना, विषयों में बँटा हुआ देखना मन की मजबूरी है।

तो सब एक जैसा फिर कब दिखाई देगा? 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कब होगा? सिर्फ़ तब होगा जब मन विषयों को लेकर के ना कोई आग्रह रखे, ना आशा रखे। जब तक मन में प्यास है, तब तक कोई चीज़ पसंद आएगी, कोई चीज़ नापसंद आएगी। कहीं आशा बैठेगी, कहीं निराशा बैठेगी। कुछ अच्छा, कुछ बुरा; कुछ ऊँचा, कुछ नीचा, कुछ समीप का, कुछ दूर का, ज़रूर प्रतीत होगा।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', फिर ये सब जो बाहर है, इसके विषय में दिया गया वक्तव्य नहीं है बिलकुल। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', हमारी अंतःस्थिति का वर्णन है। जब मन की प्यास

बुझ जाती है, जब भीतर वाला बाहर टुकड़े-टुकड़े देखने का आग्रही नहीं रहता, तो बाहर टुकड़े दिखाई देने समाप्त हो जाते हैं। फिर बाहर जो दिखाई देता है उसे ब्रह्म कहते हैं।

क्या बाहर वस्तुएँ अलग-अलग नहीं दिखाई देंगी? स्थूल रूप से तो वस्तुएँ अलग-अलग ही दिखाई देंगी। मेज़ अलग है, कटोरा अलग है, पेड़ एक चीज़ है, पृथ्वी दूसरी चीज़ है। आत्मज्ञानी को भी पेड़ और पृथ्वी स्थूल रूप से, भौतिक रूप से तो पृथक ही दिखाई देंगे। पर जिस प्यास की हम बात कर रहे हैं वो प्यास मानसिक है, सूक्ष्म है। मानसिक तल पर, सूक्ष्म तल पर अब उसके लिए काले और सफ़ेद में, मेज़ और कटोरे में कोई अंतर नहीं रह गया।

ना मेज़ को लेकर के उसका कोई आंतरिक आग्रह है, ना कटोरे को लेकर आंतरिक आग्रह है। इस अर्थ में मेज़ और कटोरा एक हो गए उसके लिए। ना कटोरे से कुछ विशेष लेना-देना है, ना मेज़ से कुछ लेना-देना है, तो इस अर्थ में मेज़ और कटोरा एक हो गए। ये समीकरण बैठ गया अब, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। 'ना ये चाहिए ना वो चाहिए, तो दोनों मेरे लिए बराबर हो गए'। ये और वो बराबर हो गए क्योंकि दोनों ही चाहिए नहीं।

दोनों को एक ही स्थान दे दिया गया है, क्या? भौतिक, व्यावहारिक, स्थूल। इस अर्थ में अब दोनों बराबर हो गए। हमारे लिए वस्तुएँ, स्थूल वस्तुएँ भी सिर्फ़ स्थूल अर्थ नहीं रखतीं। हमारे लिए स्थूल वस्तुएँ सूक्ष्म अर्थ रखना शुरु कर देती हैं। जीवनमुक्त वो है जिसके लिए स्थूल वस्तुओं के बस स्थूल अर्थ हैं। मेज़ क्या है? मेज़ ऐसी चीज़ है जिस पर कटोरा रखा जा सकता है। स्थूल बात। कोई उसका सूक्ष्म अर्थ नहीं है।

सूक्ष्म अर्थ कब हो जाता है मेज़ का? तब हो जाता है जब आप कहते हो, "यदि यह मेज़ मेरे घर आ गई तो इससे मेरे मन को शांति मिल जाएगी।" अब आपने स्थूल वस्तु का उपयोग कर लिया है अपनी सूक्ष्म प्यास बुझाने के लिए। आत्मज्ञानी के साथ ऐसा नहीं होता; स्थूल वस्तु उसके जीवन में भी होती है, पर उस स्थूल वस्तु का बस एक स्थूल स्थान होता है।

मेज़ है, तो मेज़ है, मेज़ जीवन की अभिलाषा नहीं है। मेज़ से कोई आंतरिक तृप्ति नहीं मिल जानी है। मेज़ किसलिए है? मेज़ इसलिए है कि उस पर कटोरा रख दो। तो स्थूल वस्तु का स्थूल उपयोग है। मेज़ पर कटोरा रख दिया। कटोरा किसलिए है? कटोरे में दाल है। दाल भी स्थूल है। उस दाल का क्या स्थूल उपयोग है? ये शरीर स्थूल है, इसको स्थूल दाल खिला देंगे, स्थूल शरीर चलता रहेगा।

इसमें कहीं भी किसी आंतरिक प्यास के मिटने की कोई आशा नहीं है। स्थूल मेज़, स्थूल कटोरा, स्थूल दाल, स्थूल शरीर। ये सब कार्यक्रम चल रहा है, इसमें मन की अभिलाषा के तृप्त होने की कोई आशा नहीं है। ये भ्रम त्याग दिया गया है कि मेज़ से,

कटोरे से, दाल से, या शरीर से, इन चारों में से किसी से भी मन को पूर्णता मिल सकती है, मन को तृप्ति मिल सकती है। ऐसी आशा, ऐसा भ्रम पूरी तरह त्याग दिया गया है। इस भ्रम को त्यागना ही आत्मज्ञान कहलाता है। यही आत्मज्ञान है, और इससे अधिक कुछ नहीं।

और जब बाहर की सब वस्तुएँ इस अर्थ में एक सी दिखने लगें, जब सर्वं खल्विदं ब्रह्म हो जाए, तो उसी स्थिति को फिर ब्रह्मलीनता या ब्राह्मी स्थिति कह देते हैं। तो आत्मज्ञान की स्थिति और ब्राह्मी स्थिति भी एक ही हुए।

जब भीतर आत्मज्ञान है, तो फिर बाहर ब्राह्मी स्थिति है। ब्राह्मी स्थिति यही है – जो कुछ देख रहे हो, कह रहे हो, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'।

किस अर्थ में सर्वं खल्विदं ब्रह्म है? ‘ये सब मेरे लिए एक जैसा है। दिन और रात में प्रकाश का अंतर होगा, मेरे लिए प्रयोजन का अंतर नहीं है क्योंकि मेरा ना दिन से कोई प्रयोजन बचा, ना रात से कोई प्रयोजन बचा। मेरे सब प्रयोजन पूर्ण हो गए। मैं पूर्ण हो गया, मैं निवृत्त हो गया। निर्वाण है।'

सब एक है तो विवेक का क्या होगा फिर? विवेक तो सिखाता है कि अंतर करो। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' - ये अंतिम स्थिति है। विवेक आवश्यक है साधक के लिए। विवेक को हड़बड़ी में, जल्दबाज़ी में त्याग नहीं देना है। अष्टावक्र कहते हैं एक स्थान पर कि ‘करोगे क्या विवेक का?’ लेकिन यह बात अष्टावक्र को ही शोभा देती है।

जब ऐसे हो जाओ, जब हरे और पीले में, सर्दी और गर्मी में, धूप और छाँव में, तुम्हारे लिए कोई अंतर ना रह जाए, सिर्फ़ तब तुम अधिकारी हुए विवेक को त्यागने के। उससे पहले विवेक बहुत आवश्यक है। हड़बड़ी में घोषणा मत कर देना कि 'सब तो एक जैसा है। राम और रावण एक हैं, पाप और पुण्य एक हैं। तो हमें पाप ही कर लेने दो न।' ये अनर्थ हो जाएगा। ये बड़ा कुतर्क है।

पहले भेद करना सीखना होता है। और यदि भेद करने में निष्णात हो गए, तो उसका प्रसाद ये मिलता है कि आगे भेद करने की कोई आवश्यकता बचती नहीं। पहले इसमें और उसमें अंतर करना सीखना होता है। और जिसने अंतर करने की कला साध ली, वो वहाँ पहुँच जाता है जहाँ वो निरंतर हो जाता है; फिर निरंतर में स्थापित हो गया, अब उसको अंतर करने की कोई ज़रूरत नहीं रह जाती।

उस स्थिति के लिए है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म!' सिर्फ़ उसी स्थिति के लिए। कोई भी महावाक्य आरंभिक स्तर की मानसिकता या चेतना पर लागू नहीं होता। कोई भी महावाक्य साधारण मन पर उपयुक्त नहीं होता। ना तो आप 'तत्त्वमसि' कह सकते हैं। ना

'अहं ब्रह्मास्मि' कह सकते हैं। ना 'सोऽहं' कह सकते हैं। ना 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कह सकते हैं। ये बातें सिर्फ़ उनके लिए हैं जो अंतिम बिंदु पर पहुँच चुके हैं।

तो इन बातों की उपयोगिता क्या है फिर? महावाक्य हैं किसलिए?

महावाक्य इसलिए हैं ताकि आपको ये स्मरण कराते रहें कि आपकी स्थिति से आगे भी कुछ है। किसी एक बहुत दूर की जगह की झलक दे देते हैं वो। पर वो झलक आपको इसलिए नहीं देते कि आप कल्पना करने लग जाएँ कि आप बैठे-बिठाए ही उस जगह पर पहुँच गए।

दूर की किसी जगह की झलक आपको इसलिए दी जाती है ताकि आपमें प्रेरणा का संचार हो, ताकि होश बना रहे, ताकि आप ये ना सोच लें कि आप अभी जहाँ फँसे हुए हैं फ़िलहाल, वहीं फँसे रहना आपकी नियति है। तो किसी दूर की जगह से एक बात आपको सुना दी जाती है। उसी से आपको प्रमाण मिल जाता है कि आप जहाँ हैं उससे बहुत दूर, बहुत आगे भी कुछ है।

आप फिर अपनी स्थिति को अंतिम मानने से बच जाते हैं। आपमें एक उत्साह का संचार होता है कि ‘फ़िलहाल मेरे जो बँधन हैं मैं इनके विरुद्ध संघर्ष कर सकता हूँ, तोड़ सकता हूँ’। लेकिन ये मत कर लीजिएगा कि आप जिन बंधनों में बैठे हैं, उन बँधनों में बैठे-बैठे ही कहना शुरू कर दें कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। वो नहीं, एकदम नहीं।

आप जहाँ बैठे हैं वहाँ तो आपको विवेक चाहिए। और विवेक का भरपूर प्रयोग करें ताकि, एक दिन आप उस सुरमय, शांतिपूर्ण, जगह पर पहुँच सकें जहाँ चारों ओर बस यही गुंजित है – सब एक है, सब एक है, सब एक है; सब ब्रह्म है।

एतद् वै तत्

~ कठोपनिषद्, अध्याय २, वल्ली २, श्लोक ४

आचार्य प्रशांत: 'एतद् वै तत्', कठोपनिषद् से। ‘यह वास्तव में वह है’, या ‘वो है’। ‘यह’ किसके लिए? ‘यह’ कहा गया है उसके लिए जो चारों तरफ़ प्रतीत होता है, विस्तृत है, अनुभव्य है; पूरा संसार। उसको कहा गया है, ‘यह’। यह सब कुछ जो आपके अनुभव में आता है जिसको आप देख सकते हैं, सुन सकते हैं, छू सकते हैं, नाम दे सकते हैं। यह सब कुछ वास्तव में वह है।

यह भी वर्णन आख़िरी स्थिति का ही है, ठीक वैसे ही जैसे 'अहम् ब्रह्मास्मि’। किस स्थिति का वर्णन है ये? जब जितने भेद दिख रहे होते हैं वो मन के लिए महत्वहीन हो जाते हैं; मन के लिए सारे भेद महत्वहीन हो गए, जो कुछ भी दिख रहा है वो मन के केंद्र पर कोई असर ही नहीं डाल रहा। कुछ भी दिख रहा हो यहाँ-वहाँ, मन एक बिंदु पर स्थित हो गया है। चारों तरफ़ डोलते दृश्यों के साथ मन अब डोल नहीं रहा, सिर्फ़ तब अधिकार मिलता है कहने का कि ये जो कुछ है, ये वही है।

‘ये अपनेआप में अब कोई अर्थ नहीं रखता मेरे लिए। पेड़ है, खंबा है, सड़क है, अलग-अलग व्यक्ति हैं, चारों तरफ़ बिखरे हुए विषय हैं विविध, ये सब हैं। नेत्रों के लिए इनकी परस्पर पृथक सत्ता है, ये अलग-अलग दिखाई देते हैं, पर मन के लिए इनकी भिन्नता में अब कोई अर्थपूर्णता नहीं बची है। अब यह नहीं कह पाऊँगा कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व रखता है मेरे लिए’।

कब होता है ऐसा? तब होता है जब मन संसार से अपेक्षा रखना छोड़ दे। कब छोड़ता है अपेक्षा? जब वो अपनेआप में संतुष्ट हो जाता है। मन संतुष्ट हो गया है। मन अपनेआप में पूरा हो गया है।

अब उसके सामने कुछ काला लेकर के आओ, उसे उससे क्या लेना-देना; उसे काले का उपयोग अब नहीं करना है अपनी तृप्ति, संतुष्टि के लिए। उसके सामने सफ़ेद लेकर के आओ, वो भी बात बराबर है। चाहे काला लाओ चाहे सफ़ेद लाओ, काला-सफ़ेद दोनों ही उसके लिए अर्थहीन हो गए।

आँखें अभी भी काले को काले की तरह ही देखेंगी, आँखें सफ़ेद को सफ़ेद की तरह देखेंगी। व्यावहारिक रूप से बुद्धि भी काले का एक इस्तेमाल कर लेगी, सफ़ेद का दूसरा इस्तेमाल कर लेगी, लेकिन काला-सफ़ेद, दुनिया के समस्त भेद, ये अब अस्तित्वगत रूप से मन के लिए अर्थवान नहीं रहे।

सर्दी हो, गर्मी हो, स्त्री हो, पुरुष हो, अमीरी हो, गरीबी हो, लाभ हो, हानि हो, मन ठहर गया है, मन शांत हो गया है। मन अब ये नहीं कहेगा कि 'ये एक है, वो दो है, वो तीन है, वो चार है, वो पाँच है'। जब मन ऐसे भेद गिनता है तो जान लो कि अभी मन भेदों में कहीं-न-कहीं अर्थ खोज रहा है।

अब मन कह रहा है, 'एतद् वै तत्', ये सब कुछ जो है वो एक ही है। वो एक क्या है? वो कोई बाहरी चीज़ नहीं है। वो मन अपनी केंद्रीय स्थिति का वर्णन कर रहा है जिसका वर्णन किया नहीं जा सकता, तो बस इतना कह दिया, 'तत्'; 'एतद् वै तत्', ठीक वैसे जैसे 'तत्त्वमसि'।

बाहर हज़ार चीज़ें हैं जो बदल रही हैं, भीतर कुछ है वो बदल नहीं रहा। ये वो स्थिति है जिसकी ओर उपनिषद् आप सबको लाना चाहते हैं – सम स्थिति।

तो क्या बाहर शेर खड़ा हो और खरगोश हो, मन दोनों को एक ही तरह देखेगा? नहीं, पर मन का कोई बिंदु रहेगा भीतर केंद्रीय जो शेर को देख कर डरेगा नहीं। आँखों ने शेर को देखा, सूचना बुद्धि के पास पहुँची, बुद्धि ने स्मृति से पता करा कि शेर एक खतरनाक जीव होता है। बुद्धि शायद टाँगों को आदेश देगी कि 'चलो, यहाँ से हटो'। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में आपकी जो केंद्रीय और गहन शांति है, वो भंग नहीं होगी। मन अभी भी 'तत्' के साथ ही रहेगा, इंद्रियाँ चाहे जो कर रही हों। ज्ञानेंद्रियों ने देख लिया, भीतर बुद्धि ने, जो सूचना आयी, उसके आधार पर निष्कर्ष ले लिया, और फिर कर्मेंद्रियों ने दौड़ लगा दी कि वहाँ से हटो अब।

ये सब कुछ चल रहा है, भीतर आप विश्राम में हैं। बाहर-बाहर खेल चल रहा है, भीतर जैसे कोई सो रहा है। भीतर कोई है जिसको बाहर के खेल से कोई अंतर ही नहीं पड़ रहा, जिसके लिए बाहर के खेल के सब तत्व, सब पात्र एक बराबर हैं। उन सबको एक बराबर रख कर वो कह रहा है, ''एतद् वै तत्' – ये जो कुछ है वही है। इनमें मुझे कोई भेद नहीं दिखता'। इन सबको मैं एक संयुक्त, साझा नाम दे देता हूँ – ये वही हैं। नाम क्या है? नाम कुछ नहीं है। नाम तो जिनका होता है वो सब बाकी दुनिया के विषय होते हैं। पर फिर भी इशारा करना है तो कह दिया 'तत्', 'वह'।

सारे औपनिषदिक साहित्य का उद्देश्य आपको दुःख से मुक्ति दिलाना है, और दुःख है संसार का दास बन जाने में। दुःख है सर्दी में सर्द हो जाने में, गर्मी में गर्म हो जाने में। पहाड़ पर चढ़ गए तो ऊँचे हो गए, खाई में गिर गए तो नीचे हो गए। पहाड़ पर आपका शरीर चढ़ जाए, आप ना चढ़ें। खाई में आपका शरीर गिर जाए, आप ना गिरें। आप कहाँ रहें? आप जहाँ के हैं आप वहीं के रहें। वो जगह संसार की नहीं है। वो जगह संसार से अस्पर्शित रहनी चाहिए, अनछुई!

अमीरी में आप अमीर हो जाते हैं, गरीबी में आप गरीब हो जाते हैं। अमीरी में आपको अमीर नहीं हो जाना है, गरीबी में आपको गरीब नहीं हो जाना है। हुआ होगा कोई जिसका कोई नाम है, जिसकी कोई देह है, वो अमीर हो गया, ठीक है। फिर कोई दिन आया, उसका पैसा छिन गया, वो गरीब हो गया; आप जहाँ थे वहीं रहें। जो आपका मूल स्वरूप है, आप उसी में स्थापित रहें। आप पूर्ण हैं, पूर्ण रहें। अमीरी आपमें कुछ जोड़ नहीं सकती, गरीबी आपमें कुछ घटा नहीं सकती।

ये वेदांत का संदेश है। जो ऐसा रहने के लिए संकल्पित हो जाता है, वही फिर जीवन में आनंदित रहता है और मुक्त हो पाता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो

जो बलहीन होता है उसको आत्मा प्राप्त नहीं होती।

~ मुंडकोपनिषद्, तृतीय मुण्डक, द्वितीय खंड, श्लोक क्रमांक ४

आचार्य प्रशांत: 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो', मुण्डक उपनिषद्। जो बलहीन होता है उसको आत्मा प्राप्त नहीं होती। उसे आत्मा का लाभ नहीं होता। हम सोचते हैं कि यहाँ कहा जा रहा है कि आत्मा प्राप्त करने के लिए बल चाहिए। उससे बेहतर तरीका है इस श्लोक को देखने का कि समझो कि ये श्लोक बल की परिभाषा बता रहा है।

बल फिर क्या हुआ? सारा बल मन के आत्मा के प्रति खिंचाव में है। उसी को बल कहते हैं। इस श्लोक से ये अर्थ मत लगा लीजिएगा कि जो बलवान होते हैं उनको आत्मा मिलती है।

बलवान माने क्या? कहाँ से बलवान? बुद्धि से बलवान, शरीर से बलवान, धन से बलवान। कैसा बल? बात कुछ और है। आप में अगर आत्मा के प्रति लगाव है तो आप बलवान हैं।

बलवान होकर आप आत्मा को नहीं पाएँगे, आत्मा को पाना चाहते हैं तो बलवान हो जाएँगे। ये दोनों बहुत अलग-अलग बातें हैं। और बस इन्हीं दो बातों से दुनिया में दो श्रेणी के लोग पैदा हो जाते हैं, लोगों में दो श्रेणियों का विभाजन हो जाता है। एक वो जो सोचते हैं कि पहले बल इकट्ठा करेंगे उससे आत्मा मिल जाएगी।

आत्मा माने क्या? आत्मा माने आनंद, तृप्ति, अंतिम संतुष्टि, उसको आत्मा कहते हैं। तो एक श्रेणी के लोग वो होते हैं जो कहते हैं, "पहले बल पैदा करेंगे और उस बल से फिर हमें आत्मा मिल जाएगी।" ये आम संसारी है। वो ज़िंदगी भर यही करता रहता है। वो कहता है, "मुझे इस तरह का बल मिल जाए, उस तरह का बल मिल जाए, मैं ऐसे संसाधन जुटा लूँ, मैं इस तरह की सुरक्षा, सिक्योरिटी वगैरह सब अपने लिए कर लूँ। और ये सब कर लूँगा तो मुझे आत्मा मिल जाएगी।" आत्मा माने तृप्ति, *कंटेट्नमेंट*।

ये ग़लत है बात! तो इस श्लोक का वो वाला अर्थ नहीं कर लेना है कि पहले बल आएगा, फिर आत्मा आएगी। ना, श्लोक का अर्थ बिलकुल दूसरा है। श्लोक का अर्थ है आत्मा उसको मिलती है जिसको आत्मा से प्रेम होता है; ये अर्थ है।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो' – आत्मा उसको मिलती है जिसको आत्मा से प्रेम होता है; और कुछ चाहिए ही नहीं। और कोई अर्हता नहीं है, किसी तरह की और कोई पात्रता, एलिजिबिलिटी दिखानी नहीं है, प्रेम चाहिए। प्रेम है तो बल आ जाएगा। प्रेम ही बल है। जिसको आत्मा से प्रेम है उसको आत्मा मिल जाएगी।

तो आत्मा, उपनिषद् कहता है, बहुत ज्ञानी को नहीं मिलती, बहुत प्रवचन करने वाले को नहीं मिलती। इस तरह के कई कोटि के लोग हैं जिनको उपनिषद् नकार देता है कि 'नहीं, नहीं, नहीं'। बहुत सुनने वाले को भी नहीं मिलती, बहुत बोलने वाले को भी नहीं मिलती, बहुत श्रम करने वाले को नहीं मिलती। तो किसको मिलती है? बहुत प्रेम करने वाले को मिलती है।

जिसको प्रेम है आत्मा से उसे आत्मा मिल जाएगी। प्रेम ही बल है। आपके जीवन में अगर आपको बल की कमी लगती है, अगर आपको लगता है कि ताक़त नहीं है आपके पास, तो आपको प्रेम चाहिए। ताक़त की कमी इसलिए नहीं होती कि आपने संसार में संसाधन नहीं जुटाए। हम सोचते हैं कि 'मेरे पास ताक़त इसलिए नहीं है क्योंकि मेरे पास पैसा नहीं है'। नहीं, तुम्हारे पास ताक़त इसलिए नहीं है क्योंकि तुम्हारे पास प्रेम नहीं है।

प्रेम का बल पैसे और अन्य संसाधनों के बल पर हमेशा भारी पड़ेगा। और ये बहुत ज़बरदस्त ग़लतफ़हमी है कि अगर आप कमज़ोर हो तो इसलिए क्योंकि आपको अच्छा अतीत नहीं मिला, या अच्छी शिक्षा नहीं मिली, या अच्छी संगति नहीं मिली, या आप अच्छी जगह पर नहीं हुए, या अच्छा पैसा नहीं है आपके पास।

लोग इसी तरह के कारण गिनाते हैं ये बताते हुए कि वो कमज़ोर क्यों हैं। वो कहते हैं, "मैं कमज़ोर इसलिए हूँ क्योंकि मेरा परिवार कमज़ोर था।" नहीं, आप कमज़ोर इसलिए हो क्योंकि आपके पास प्रेम नहीं है। और कोई वजह नहीं होती है बलहीनता की।

प्रेमहीनता ही बलहीनता है। प्रेम से बड़ा बल कोई दूसरा होता नहीं। मैं कह सकता हूँ प्रेम के अलावा कोई दूसरा बल होता ही नहीं। तो ताक़त सबको चाहिए, लेकिन ताक़त वैसे नहीं मिलेगी जैसे आप सोचते हो। बंदूक से नहीं ताक़त आ जाएगी। आप सोचते हो जेब में पैसा और कंधे पर बंदूक रख कर चलोगे तो आप ताक़तवर हो गए। नहीं, ताक़त वहाँ से नहीं आएगी।

ताक़त ऐसे भी नहीं आएगी कि आप समाज में ऊँचे-ऊँचे लोगों को जानते हो या आपने अमीर लोगों से संबंध बना लिए, रिश्ते कर लिए, तो आप में ताक़त आ जाएगी। ना, वहाँ से भी नहीं आएगी। आत्मा से रिश्ता बनाने पर बल आता है। ताक़तवर और प्रसिद्ध लोगों से रिश्ता बनाने पर कोई बल नहीं आ जाएगा। जिसने आत्मा से रिश्ता बना लिया उसको बल मिल गया।

अब समझ में आ रहा है क्यों 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो'?

अरे! बलहीन माने? प्रेमहीन। तो जब आत्मा से प्रेम ही नहीं है तो तुम्हें आत्मा क्यों मिलेगी? ठीक है? तो कुल मिलाजुला कर समझना इसको, बल माने प्रेम। प्रेम ही बल है। ज़िंदगी में अगर कमज़ोरी पा रहे हो, डरे-डरे रहते हो, असुरक्षित रहते हो, तो कारण बस एक है – प्यार नहीं है तुम्हारे पास। प्रेमहीन हो, लवलेस हो।

प्रेम जाना होता तो कमज़ोर नहीं रह सकते थे। दुनिया की सारी ताक़त बस उसी में है, प्रेम में। प्रेम है जो आपको ताक़त के अक्षय स्रोत से जोड़ देता है। तो प्रेम में ही ताक़त है। ताक़त का अक्षय स्रोत क्या? आत्मा। प्रेम पुल बन जाता है आपके और आत्मा के बीच में। तो आपको भी ताक़त मिलने लग जाती है।

Table of Contents